दार्शनिक-
अध्यात्मतत्त्व

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

पं० रघुवरदत्त द्विवेदी

प्रियग्रन्थमाला पुष्प ४५
ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला पुष्प १३

दार्शनिक अध्यात्म-तत्त्व

जिस में—

छहों दर्शनों का अध्यात्म अर्थात् ईश्वर, जीवात्मा, अन्तःकरण, ध्यानोपासना मोक्ष आदि २० विषयों का सूत्रव्याख्या-नसहित विशेष विवेचन किया गया है, साथ में प्रत्येक विषय को वेद से भी सम्पोषित किया है।

लेखक और प्रकाशक—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

वेदानुसन्धानसदन (आर्य वानप्रस्थाश्रम) ज्वालापुर
जिला—सहारनपुर

पुस्तक मिलने का पता—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा, श्रद्धानन्द बलिदान भवन
देहली ६

प्रथमवार	आश्विन २०१४ वि०	मूल्य
१२००	सितम्बर १९५७ ई०	१॥)

विषय सूचि

पृष्ठभूमि

पृष्ठ भूमि

संस्कृतवाङ्मय में उपनिषद् और शास्त्र ‡ दो आध्यात्मिक प्रधान विषय हैं। अध्यात्म जीवन में विशेष उपयोग होने से उपनिषदों को श्रुति † और शास्त्रों को दर्शन नाम दे दिये हैं। ये दोनों आध्यात्मिक जीवन में ऐसे ही हैं जैसे बाह्य जीवन—शरीर में कान और आँख प्रधान अङ्ग हुआ करते हैं। कान और आँख की प्रधानता का प्रदर्शन वेद में अनेक स्थानों पर आता है, तथापि उदाहरणार्थ एक ही स्थल देते हैं।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

(ऋ० १।८९।८, यजु० २५।२१)

हम ज्ञानवान् होते हुए कानों से भद्र अर्थात् पुण्य श्रवण करें और कर्मपरायण होते हुए आँखों से भद्र अर्थात् पुण्य दर्शन करें।

कानों से सुनकर ध्वनिचित्र मन अन्तःकोष्ठ (camera) में खिच जाता है, भद्र श्रवण का भद्र चित्र, और अभद्र श्रवण का

---

‡ षट् शास्त्र जो दर्शन नाम से प्रसिद्ध हैं।

† "विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" (मनु० ६।२७२) "श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य" (सांख्य० ५।१२) क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादन कारण कहती है (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

अभद्र चित्र, पश्चात् वह भद्र का भद्ररूप में अभद्र का अभद्ररूप में अन्दर ही अन्दर पुनः पुनः प्रतिध्वनित होता रहता है—गूंजता रहता है। एवं आँखों से रूप देखकर रूपचित्र मन अन्तःकोष्ठ (camera) में खिंच जाता है, भद्र दर्शन का भद्रचित्र और अभद्र दर्शन का अभद्र चित्र, पश्चात् वह भद्र का भद्ररूप में और अभद्र का अभद्ररूप में अन्दर ही अन्दर पुनः पुनः प्रतिबिम्बित होता रहता है—चमचमाता रहता है। ध्वनि या रूप का भद्र चित्र कल्याण का साधन बनता है और अभद्र अकल्याण का। इसी प्रकार उपनिषद् श्रुतिरूप और शास्त्र दर्शनरूप ये दोनों आध्यात्मिक जीवन के कान और आँख बनकर मोक्ष के अमोघ साधन हैं। इन दोनों से रहित संस्कृति और साहित्य हो तो वह मानव संस्कृति और मानव साहित्य नहीं कहला सकता।

उपनिषदों को श्रुति और शास्त्रों को दर्शन कहा जाता है, यदि इन दोनों को एक ही रेखा पर लाना चाहें तो फिर उपनिषदों को श्रुति कहा गया तो शास्त्रों (षट् शास्त्रों) को दृष्टि नाम देना होगा, और यदि शास्त्रों (षट् शास्त्रों) को दर्शन कहा जावेगा तो उपनिषदों को श्रवण कहना पड़ेगा। इस प्रकार दोनों को एक रेखा पर लावेंगे तो इन्हें निम्न रूप में देखेंगे—

उपनिषद् — शास्त्र (षट् शास्त्र)
श्रुति — दृष्टि
श्रवण — दर्शन

प्रस्तुत विषय शास्त्र (षट् शास्त्र) का है, अतः इसी पर ही विशेष कहना है। छः शास्त्रों की या छः दर्शनों की छः दृष्टियाँ हैं। तीन दृष्टियाँ बाहिरी जगत् में तो तीन दृष्टियाँ भीतर शरीर में हैं। दो दो शास्त्र या दर्शन समानशाखता से सम्बद्ध होने

के कारण इन के तीन युगल (जोड़े) हैं। सांख्य—योग, वैशेषिक-न्याय, मीमांसा—वेदान्त। प्रत्येक युगल में से एक दर्शन बाहिरी दृष्टि से वर्णन करता है तो दूसरा भीतरी दृष्टि को लेता है। सांख्य दर्शन बाहिरी जगत् के मूल—उपादान—प्रकृति और उसके परिवार का मुख्यतः विवेचन करता है तो योग दर्शन भीतरी दृष्टि अर्थात् शरीर के मूल एवं प्रमुख पदार्थ चित्त ‡ और उसकी वृत्तियों का व्याख्यान प्रधानतया करता है। वैशेषिक दर्शन बाहिरी पृथिवी आदि विशेष पदार्थों का वर्गीकरण विश्लेषण एवं प्रतिपादन करता है तो न्याय दर्शन उनके उपयोगार्थ भीतरी उपकरणों और साधनों का स्वरूप तथा प्रक्रिया दर्शाता है। वेदान्त दर्शन बाह्य जगत् के निर्माता नायक परमात्मदेव और उसके गुण शक्तियों का विवेचन करता है तो मीमांसा दर्शन शरीर के भीतरी नायक जीवात्मा के कर्मकलाप का विधान करता है। इस प्रकार छः शास्त्रों की छः दृष्टियां होने से तथा अध्यात्म में उपयुक्त होने से ये दर्शन नाम से प्रसिद्ध हैं।

यहां दर्शन शब्द का साधारण अर्थ आँख से देखना नहीं है किन्तु मन से देखना है। अन्य पुस्तकों में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं "मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥ (चाणक्यनीति श्लोक ३, हितोपदेश मित्रलाभ १४) माता के समान पर स्त्रियों में परधनों में लोष्ठ के समान, सब प्राणियों में जो आत्मा के समान देखता है वह ज्ञानवान् है। तथा बुद्धिमान् मनस्वी को दूरदर्शी सूक्ष्मदर्शी पारदर्शी कहा जाता है "दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

‡ "मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे" (प्रश्नो० ३।३)

(कठो० ३।१२) सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी जनों के द्वारा परमात्मा देखा जाता है। एवं "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५) परमात्मा द्रष्टव्य है। "आत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृह० ४।४।२३) स्वात्मा में ही परमात्मा को देखता है। इत्यादि अनेक प्रयोग 'दृश' धातु के ज्ञान अर्थ में मिलते हैं। अतः यहां दर्शन शब्द का अभिप्राय है जगत् में निहित सिद्ध वस्तुतत्त्व का तर्क द्वारा देखना दिखलाना ज्ञान करना कराना इस प्रकार दर्शन एक विद्या का नाम हुआ। अत एव दर्शन ग्रन्थ वेद के उपाङ्ग हैं, वेद से तथा वेदकाल से ही दर्शनविद्या का विकास और प्रसार हुआ। इसी कारण ये छः दर्शन वैदिक दर्शन और आस्तिक दर्शन हैं एवं वेद को प्रमाण मानकर ही इन सब की प्रवृत्ति हुई और सब में वेद का नाम-निर्देश 'वेद, श्रुति, आम्नाय, मन्त्र, आगम' शब्दों से किया है। आर्यों का सर्वतः प्रामाणिक धर्मशास्त्र वेद है अतएव ये छओं दर्शन आर्य दर्शन आस्तिक दर्शन हैं सब ईश्वर को स्वीकार करने वाले हैं इनमें कोई भी ऐसा दर्शन नहीं जो ईश्वर को स्वीकार न करता हो, पाठक यह बात प्रस्तुत पुस्तक के ईश्वरप्रकरण में देखेंगे, यहां इस पर लिख कर प्राक्कथन को विस्तार देना अभीष्ट नहीं है।

दर्शनों का प्रमुख विषय है ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति, सृष्टि-रचना, मन और निःश्रेयस या मोक्ष। वेद में इन विषयों की चर्चा स्थान स्थान पर मिलती है जो कि यहां दार्शनिक सूत्र-विवेचन के साथ साथ यथासम्भव वेदमन्त्रों से भी हम प्रदर्शित करते जावेंगे क्योंकि इन्हीं वेदप्रतिपादित तत्त्वों को सिद्ध करना दर्शनों का कार्य है। यहां तो कुछ ऐसे स्थल ही वेद के निदर्शनार्थ प्रस्तुत करते हैं जो दार्शनिक तत्त्व वेद ने

दर्शनशैली अर्थात् तर्कना या ऊहा के ढंग से दर्शाए हैं। वे स्थल निम्न प्रकार देखें।

जगत् के उपादान कारण पर तर्कना ‡—

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

(ऋ० १०।८१।२, यजु० १७।१८)

विश्व के उत्पत्तिसमय अधिष्ठान—आश्रय क्या था उत्पत्ति का मूल पदार्थ क्या था कैसा था जिससे कि विश्वकर्मा विश्व को उत्पन्न करने वाले विश्वचक्षा—विश्वद्रष्टा परमेश्वर ने भूमिलोक और द्युलोक को अर्थात् अधोलोक से लेकर ऊर्ध्वलोक तक की सृष्टि को उत्पन्न करने के हेतु जिसे अपने महत्त्व से आच्छादित किए हुए—ढके हुए—दबाए हुए स्वाधीन किए हुए था।

यहां जगत् के मूल—उपादान कारण के सम्बन्ध में तर्कना है विवेचन है क्योंकि चेतन निमित्त कारण का निर्देश तो मन्त्र में 'विश्वकर्मा' और 'विश्वचक्षाः' नामों से किया हुआ है ही अतः यहां तर्कना या विवेचना मन्त्र में उपादान कारण के लिये है स्थूल वस्तु तथा प्रत्यक्ष तर्कना का विषय नहीं होता किन्तु सूक्ष्म तथा अनुमानगम्य वस्तु ही तर्कना का विषय होता है। अतः जगत् का मूल अव्यक्त है यह दार्शनिक शैली का विचार यहां है।

---

‡ ग्राम्यकला (स्थपति—वास्तुपति, कुलाल, कुम्हार की कला) के अलङ्कार से वर्णन।

पुनः प्रकारन्तार से ‡—

किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
(ऋ० १०।८१।४, यजु० १७।२०)

कौन वह वन और कौन वह वृक्ष था जिससे द्युलोक और पृथिवीलोक को घड़ा है‡ हे विचारशील जनो-दार्शनिक लोगो ! तुम अपने मन से पूछो—विचारो और उस बात को भी प्रकारान्तर से सोचो कि लोकों—आकाशीय पिण्डों को धारण करता हुआ जिस पर अधिष्ठित है।

यहां मन्त्र में जगत् के उसी मूल पदार्थ उपादान कारण का तक्षणालङ्कार से विवेचन किया है और तक्षणकर्ता—घड़ने वाला ही विश्वकर्मा परमात्मा है यहां विशेष रूप से 'मनीषिणः' शब्द दर्शा रहा है कि तार्किकों को इस बात पर मन से सोचना चाहिए, इस प्रकार दर्शनविद्या का निर्देश करता है।

जगत् के निमित्त कारण पर तर्कना—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
(ऋ० १०।१२९।६)

कौन तत्त्वतः जानता है कौन खोलकर इस विषय में प्रवचन कर सकता है कि यह विविध सृष्टि कैसे और किस निमित्त कारण द्वारा प्रादुर्भूत हुई, इस जगत् के मूल कारण का विभागीकरण से पीछे ही तो उत्पन्न हुए हुए देव अर्थात्

---

‡ वन्यकला (काष्ठ की कला) के अलङ्कार से वर्णन ॥

‡ वचनव्यत्यय से एक वचन के स्थान में बहुवचन है।

विद्वान् जन हैं भला उनमें से कौन जान सके कि जिस मूल कारण-उपादान से यह सृष्टि प्रादुर्भूत हुई।

इस मन्त्र में सृष्टि के उपादान कारण और निमित्त कारण चेतन पर तर्कना की गई है और देव अर्थात् विद्वान् जन तर्कना में समर्थ होता है यह दर्शनशैली का निर्देश है।

पुनः पूर्व कथन के उत्तर में--

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋ० १०।१२६।७)

यह विविध सृष्टि जिस मूल से-उपादान कारण से प्रादुर्भूत हुई-समन्तात् व्यक्त हुई उस इस मूल कारण-उपादान कारण का जो अध्यक्ष ‡ महान् आकाश में वर्तमान है या अपने ही आकाशवत् अनन्तज्ञानस्वरूप में वर्तमान है। हे जिज्ञासु

---

‡ मन्त्र में "अस्य—अध्यक्षः" में 'अस्य' शब्द 'यतः—आबभूव' के कथन के 'आबभूव' क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले मूल पदार्थ—उपादान कारण अव्यक्त के लिये आया है जिस को क्रियानुसार "तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्" (ऋ० १०।१२६।३) इस पूर्व मन्त्र में "तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्" में आभु नाम दिया है अर्थात् सृष्टि से पूर्व जो था वह अन्धकार से आवृत्त था यों कहिये अन्धकार का सा था जल के समान एकीभूत अविभक्त अविज्ञेय था तुच्छरूप से 'आभु' सब ओर फैला हुआ अव्यक्त था वह परमात्मा के ज्ञानमय तप से एक महत्तत्त्व के रूप में प्रादुर्भूत हुआ जो विविध सृष्टि का मूल 'आभु' है। इस आभु—अव्यक्त मूल उपादान कारण का परमात्मा अध्यक्ष है।

जन ! वह अध्यक्ष परमात्मा चाहे तो इस विविध सृष्टि को धारण करे—सृष्टिरूप में बनाये रखे चाहे तो न धारण करे संहार करदे यह उसके अधिकार में है और वह अध्यक्ष परमात्मा इसके मूल—उपादान कारण को चाहे तो जाने अपने ज्ञान में रखे चाहे तो न जाने न ज्ञान में रखे। ज्ञान में रखना सर्जन की ओर नम्र कर देना (सृष्टि) प्रारम्भ कर देना, न ज्ञान में रखना इस का कुछ न बनाना—मूलरूप में ही पड़े रहने देना प्रलय स्थिति को बनाए रखना। एवं उत्पत्ति प्रलय पर भी उस अध्यक्ष परमात्मा का अधिकार है।

इस मन्त्र में पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए जगत् के उपादान कारण का निरूपण करते हुए उसके अध्यक्ष निमित्त कारण परमात्मा का प्रतिपादन किया है, साथ ही उत्पत्ति स्थिति संहार एवं प्रलय का निर्देश भी किया है।

इस प्रकार दर्शनशैली से तर्कनापूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, संहार, मूल उपादान कारण 'आभु' अव्यक्त प्रकृति तथा निमित्त कारण विश्वकर्मा परमात्मा का वर्णन आचुका।

अब लीजिए जीवात्मा के सम्बन्ध में तर्कना—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तमनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुम्॥

(ऋ० १।१६४।४)

जब हड्डीवाले देह को हड्डीरहित आत्मा धारण करता है उस प्रथम आदिरूप सम्बन्ध को कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता—आत्मा ने प्रथम शरीर धारण कब किया यह बात जाननेवाला कोई नहीं, सृष्टि पुनः पुनः होती है यह प्रवाह से अनादि है अतः आत्मा का शरीर धारण करना भी

प्रवाहरूप है अनादि है। पुनः जबकि भूमिलोक का प्रथम जायमान असु-प्राण—वनस्पतिवर्ग और असृक्—रक्तमय जङ्गमवर्ग और इन में प्रविष्ट होने वाला आत्मा कहां थे, कौन विद्वान् के पास जाकर पूछे अर्थात् कोई नहीं, कौन जाने। यह तो बीज और वृक्ष के समान प्रवाहरूप है। जीवात्मा अनादि है शरीरधारण करना भी प्रवाहरूप से अनादि हैं।

मन के सम्बन्ध में तर्कना—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेक्षन्ती नेलयन्ति कदा चन॥

(अथर्व० १०।७।३७)

यह वायु गतिशील कैसे गति न कर सके-कैसे गति बन्द करदे-कब ठहरसके, मन क्यों नहीं ठहरे निरन्तर गति करता है कैसे ठहरे कब ठहरे, जलप्रवाह किस सत्य को चाहते हुए वहते हुए कब रुक सकते हैं।

इन सब की गति सत्य पर रुक जाती है। जलप्रवाह का सत्य है पृथिवी का समधारातल समुद्र, वातवेग का सत्य है पृथिवी की परिधि या कक्षा या पटाह। मन का सत्य है अत्यन्त अणु और अत्यन्त महान् अनन्तगुणकर्मवान् परमात्मा, यहां मन की गति बन्द हो जाती है।

मुक्ति या बन्धन से मुक्ति के सम्बन्ध में विवेचना—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥

(ऋ० १।२४।१)

अविनश्वर—नित्य पदार्थों में से कौन से का तथा

किस गुण वाले देव का सुन्दर नाम हम मानें जाने स्मरण करें, कौन हमें मही-महती अदिति-अखण्ड सुखसम्पत्ति-मुक्ति के लिये पुनः देता है और फिर किससे प्रेरणा पाकर पिता माता को देखूँ--देखता हूँ।

उत्तर--

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
(ऋ० १।२४।२)

हम अविनश्वर नित्य पदार्थों में से प्रमुख ज्ञानप्रकाश-स्वरूप परमात्मदेव का सुन्दर नाम मानें जानें स्मरण करें, वह हमें मही - महती अदिति - अखण्ड सुखसम्पत्ति - मुक्ति के लिये पुनः देता है और फिर उस से प्रेरित हुआ पिता माता को देखूँ--देखता हूँ।

इन दोनों मन्त्रों में तर्कनीय या जिज्ञास्य वस्तु एक है। प्रथम मन्त्र में उसके लिये प्रश्न है कि वह कौन है दूसरे मन्त्र में उत्तर अग्नि-ज्ञान प्रकाशस्वरूप परमात्मा है जिसको मानना स्मरण करना चाहिए। उसके मानने जानने स्मरण करने का हेतु मन्त्र में दिया है कि जो 'मही अदिति' के लिये हमें फिर देता है और पिता माता को भी दिखलाता है दोनों मन्त्रों में विचारणीय शब्द है 'अदिति'। यहां 'अदिति' शब्द मुक्ति के लिये प्रयुक्त है। इसमें निम्न कारण हैं--

१--पिता माता को देखना--जन्म पाना, यह तो स्पष्ट है। इसके प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी आशय में "अदितये पुनर्दात्" प्रयोग आया है जो मुक्ति के लिये ही यहां हो सकता है।

२--"मह्या अदितये=मह्यै--अदितये" में मही शब्द

विशेषण भी अदिति का रखा है। मही--महती अदिति के लिये। वह कौन स्थान है यह देखना है, यदि कोई भौतिक स्थान लोक है तो जन्म ही हो सकता है सो तो कहा हुआ है ही "पितरं च दृशेयं मातरं च" यह भेदप्रदर्शन इस अभिप्राय में सार्थक नहीं। अदिति का अर्थ ईश्वर यहां नहीं लिया जा सकता क्योंकि कौन अमर देव अदिति के लिये देता है प्रश्न निरर्थक हो जायेगा अतः अदिति शब्द मुक्ति के लिये ही आया है।

३--प्रथम जीवात्मा के बन्धन में आने और बन्धन के कारण देखें--

शुनः शेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ।

अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥

(ऋ० १।२४।१३)

इन्द्रियसुखलोलुप जीवात्मा वासनाओं से निगृहीत हुआ--वासनाओं से घिरा हुआ कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीर रूप खूँटों में बन्धा हुआ अदिति--अखंड सुखसम्पत्ति-मुक्ति के स्वामी परमात्मा को पुकारता है कि राजमान वरुण परमात्मा बन्धन से छोड़ दे, अतः जीवात्मा की दशा को तथा नम्र स्तुति स्मरण को जानता हुआ वह अदभ्य शासक परमात्मा इसके पाशों को खोल देता है।

अब इसी सूक्त के अन्तिम १५ वें मन्त्र को देखें--

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥

(ऋ० १।२४।१५)

अभी हम इसी सूक्त के १३ वें मन्त्र द्वारा बतला आए हैं कि इन्द्रियसुखलोलुप जीवात्मा वासनाओं से घिर कर स्थूल सूक्ष्म कारण शरीररूप तीन खूटों में बन्धा हुआ छूटने की प्रार्थना करता है वही प्रार्थना इस मन्त्र में सफल की जाती है कि हे वरने योग्यवरने वाले परमात्मान् ! हम से अविवेककृत कारणशरीर उत्तम पाश, लोहवत् संसक्त पाश, वासनाकृत सूक्ष्म शरीर मध्यम पाश आवरणपाश और भोगकृत स्थूल शरीर अधम पाश ग्रन्थिपाश को काट दे, विच्छिन्न करदे, खोलदे। अनन्तर इसके पश्चात् हे आदित्य—अदिति के स्वामी हम तेरे शासन में तेरी उपासना में रहते हुए अदिति के लिये हों। बन्धन छिन्न भिन्न हो जाने पर अदिति के लिये प्रार्थना करना यहां अदिति का अर्थ मुक्ति है यह सिद्ध करता है। अदिति का अर्थ यहां मुक्ति है यह निःसन्दिग्ध है।

अब एक और बात वेद की विद्वानों के सम्मुख रखनी है विद्वान् जन उस पर विचार करें। यहां पूर्व प्रदर्शित "कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥" (ऋ० १।२४।१—२)

"अदितये पुनर्दात्" शब्द से यह भासित हो रहा है कि मुक्ति से पुनरावृति होती है, क्योंकि 'अदिति' का अर्थ यहां मुक्ति है। तब 'मुक्ति के लिये हमें फिर दे' इस कथन का अभिप्राय यही हो सकता है कि मुक्ति फिर भी होती है—मुक्ति से फिर बन्धन माता पिता के यहां जन्म पाना। यह मुक्ति से पुनरावृत्ति का विचार वेद दे रहा है। और लीजिए—

क त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥
(ऋ० ७।८८।५)

हे वरनेयोग्य वरने वाले आनन्दरसपूर्ण रसीले परमात्मन्। "नौ त्यानि सख्या क बभुवुः" हम दोनों के वे सखिभाव-समान ख्यानभाव-समान गुणभाव-समान मित्रभाव-समान स्नेह संबन्ध-समान संश्लेष संबन्ध कहाँ चले गये "पुराचित् यत्-अवृकं सचावहे "पहिले कभी जो अभिन्न अच्छिन्न सखिभाव था जिसे पहिले कभी हम दोनों सेवन करते थे उसे अब सेवन करें "ते बृहन्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं जगम" तेरे महान तथा संसार को मापने वाले-संसार जिस के सम्मुख तुच्छ एक देशी है उस ऐसे सहस्रद्वारोंवाले—असंख्यद्वारोंवाले—-अनन्तद्वारोंवालेघर अर्थात् खुले घर-मोक्षरूप खुले घर को मैं प्राप्त कर सकूँ अव्यहात गति वाले मोक्ष रूप घर को मैं पा सकूँ। जीवात्मा का शरीर भी एक घर है पर यहाँ निकलने को द्वार नहीं यह बन्दीघर है परन्तु मुक्तिरूप घर अनन्त द्वारों वाला खुला घर बन्धनरहित घर अपितु विचरणसदन है।

उपासक परमात्मा के घर में जाना चाहता है और वह घर है मोक्ष, वहाँ परमात्मा और जीवात्मा का सख्य रहता है, समान गुण सम्पत्ति हो जाती है उसे यहाँ मन्त्र में स्मरण किया जाता है कि "वे हम दोनों के सख्य कहाँ चले गए जो पहिले कभी थे।" इस प्रकार उसके स्मरण कराने से वेद मुक्ति से पुनरावृत्ति दर्शा रहा है। जो विद्वानों को विचारना चाहिये। सांख्य दर्शन में "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" (सांख्य. १।१५९) सभी आत्माएं मुक्त हो जावें तो क्रमशः सबके मुक्त हो जाने पर संसार

का उच्छेद हो जावे इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये यहाँ सूत्र में कहा है कि ऐसा नहीं होता कि सब जीवात्मा क्रमशः मुक्त होकर मुक्ति में ही सदा के लिये रह जावें किन्तु मुक्ति से फिर आना होता है क्रमशः सब मुक्त हो जाने से संसार का उच्छेद न होगा इस सर्ग की भांति, यदि क्रमशः सब के मुक्त हो जाने से पुनरावृत्ति न होकर संसार का उच्छेद हो जाना होता तो यह सर्ग भी न होता यह सर्ग है अतः क्रमशः सब के मुक्त हो जाने पर भी संसार का उच्छेद नहीं होता उनकी पुनरावृति होने से। इस सूत्र पर विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी कहा है "सर्वत्र काले बन्धस्यात्यन्तोच्छेदः कस्यापि पुंसो नास्ति वर्तमानकालवदित्यनुमानं सम्भवेदित्यर्थः" (विज्ञानभिक्षुभाष्यम्) अर्थात् सर्वत्र काल में बन्धन का अत्यन्त उच्छेद किसी भी पुरुष का नहीं होता वर्तमान काल की भांति यह अनुमान सम्भव है। अस्तु। विद्वज्जन चाहे सांख्य सूत्र या विज्ञानभिक्षु का कथन न भी मानें परन्तु हमारा साग्रह नम्र निवेदन है कि पूर्व प्रदर्शित वेदमन्त्रों के मुक्ति से पुनरावृति कथन पर विचार करें‡। अस्तु। अब इन विवेचनीय

---

‡ मुक्ति की अवधि—

बृहदारण्यकोपनिषद् में "इत ऊर्ध्वा विमुक्ताः" (बृह० ४।४।८) इस वचनद्वारा मुक्तों का प्रकरण चलाकर ब्रह्म का ज्ञान करना आवश्यक बतलाते हुए १४ वें बचन में "ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (बृह० ४।४।१४) जो उसे जानते हैं वे अमृत होजाते हैं—मुक्त होजाते हैं ऐसा कहा, पुनः उसी क्रम में कहा है कि—

यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥
(बृह० ४।४।१६)

ईश्वर आदि अध्यात्म तत्त्वों का दर्शनसूत्रों द्वारा विस्तृत

जिस परमात्मा के ईश्वरत्व में 'अर्वाक् संवत्सर'—इधर का महिमारूप संवत्सर=सं—वत्स—र=सन्तत वत्स को देने वाला "रा-दाने" (अदादि०) भांति भांति के गर्भ प्रकट करने वाला समष्टि-गर्भ—समष्टिरूप हिरण्यगर्भ—संसार । यह संसार अर्वाक् संवत्सर **"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥"** (यजु० ३१।३) इतना उपलभ्य-मान संसार इस पूर्ण परमात्मा की महिमा है इस इतने महिमारूप संसार से परमात्मा महान् है । यह इतना महिमारूप संसार इसका एकपादमात्र है इसका त्रिपात्—तीन पादवाला स्वरूप अमृतरूप प्रकाश-मय लोक में है अर्थात् त्रिपात् की अपेक्षा एक पाद संसार अर्वाक् है उरला है और भी स्पष्ट **"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः"** (यजु० ३१।४) त्रिपाद्रूप पुरुष ऊर्ध्व होगया पुनः इसका पादमात्र जगत् यहाँ उपलब्धिगोचर व्यक्त होगया । इस प्रकार त्रिपात् परमात्मा से अर्वाक् संवत्सर—इधर का एकपाद संसार (अहोभिः परिवर्तते) दिनों—दिनमानों के रूप में आता जाता है—एक संसार अर्थात् एक कल्प एक एक दिन बन बन कर आता जाता है, ऐसे ३० दिनों से एक मास, ऐसे १२ मासों से एक वर्ष, ऐसे १०० वर्षों से मुक्त की पूर्ण आयु है (तत्—अमृतम्—आयुः—ज्योतिषां ज्योतिः—ह देवाः—उपासते) उस अमृत आयु—ज्योनियों के ज्योति ब्रह्म—ब्रह्मस्थितिरूप अमृत मोक्ष को देव—मुक्त जन सेवन करते हैं । जैमिनि मुनि का कथन भी है, **"ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः"** (वेदा० ४।४।५) ब्रह्म के आधार पर मुक्ति में मुक्त रहता है । इस प्रकार मुक्त की अमृत आयु का परिमाण १०० वर्ष का कल्प के दिनमानों से बनना स्पष्ट है जोकि छत्तीस सहस्र वार सृष्टि और प्रलय से परिगणित होता है, इतनी यह

व्याख्यान आगे देखें ।

|| इति ||

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक
वेदानुसन्धान सदन
(आर्य वानप्रस्थाश्रम)
ज्वालापुर (हरिद्वार)

मुक्ति की अवधि है ।।

दार्शनिक अध्यात्म-तत्त्व

ईश्वर

इस प्रकरण में ईश्वर की सिद्धि, स्वरूप, लक्षण और उस का उपास्य देव होना दर्शाया जायगा।

ईश्वर की सिद्धि—

दर्शनों में ईश्वर की सिद्धि पांच प्रकारों से की है, वे प्रकार निम्न हैं—

१—जीवों के कर्मों का कोई फलप्रदाता होना चाहिए।

२—समस्त जगत् का ज्ञाता 'सर्वज्ञ' होना चाहिए।

३—सर्व जगत् का कर्ता 'सर्वकर्ता' होना चाहिए।

४—वेद शास्त्र में ईश्वर का वर्णन है।

५—सर्वदा सर्वथा प्रत्यक्ष सत्ता ईश्वर ही है।

जीवों के कर्मों का फलप्रदाता ईश्वर—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ (न्याय० ४।१।१९)

जीवात्माओं को कर्मफल की प्राप्ति में ईश्वर निमित्त है क्योंकि सुखप्राप्ति के लिये पुरुषों के कर्म अर्थात् प्रयत्न की अफलना-निष्फलता दिखाई पड़ने से। सुखार्थ यत्न करते हुए

भी मनोवाञ्छित सुख नहीं मिलता, विवाह तथा गृहस्थ सम्बन्ध किया पर सन्तान नहीं भी होता। बीज बोया खेती न फली। अतः सुखदुःख फल का निमित्त ईश्वर है॥

उक्त सूत्र ईश्वरसिद्धि के संवाद में उत्थानिकारूप है, इस पर पुनः कथन है—

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तिः ॥ (न्याय० ४।१।२०)

यह बात नहीं, मनोवाञ्छित सुख ईश्वर नहीं दे रहा, ऐसा नहीं किन्तु मनोवांछित सुख की अनिष्पत्ति–अप्राप्ति का कारण जीवात्मा के फलानुरूप कर्मका अभाव है। यदि ईश्वराधीन ही फलनिष्पत्ति हो तो विना कर्म भी रिक्त बैठे बैठे फलप्राप्ति हो जाया करे विना विवाह या गृहस्थ सम्बन्ध किए सन्तान हो जावे, विना बोए खेती फलजावे। पर ऐसा नहीं देखा जाता॥

इस पर कहते हैं—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ (न्याय० ४।१।२१)

जीवात्मा को फलप्राप्ति उसके कर्मानुसार–कर्मानुरूप ईश्वर कारित–ईश्वरसम्पादित अर्थात् ईश्वर की ओर से होने के कारण उक्त हेतु ठीक नहीं है कि मनुष्य को वैसे ही फल मिलता है। फल तो कर्म का मिलता है। परन्तु ईश्वर के द्वारा, यही तथ्य है कि जीवात्मा कर्म करता है और ईश्वर न्यायाधीश की भांति कर्मानुरूप फल देता है॥

वेदान्त दर्शन में भी कहा है—

फलमत उपपत्तेः ॥ (वेदा० ३।२।३८)

जीवात्माओं के किए कर्मों का फल इस सर्वव्यापक परमात्मा से दिया जाना उपपन्न है–बन सकता है। क्योंकि जीव

स्वयं अनिष्ट फल भोगने को प्रवृत्त नहीं होता और इष्टफल थोड़े कर्म से अधिक लेना चाहता है तथा कर्म के विना भी लेना चाहता है। प्रकृति भी कर्मफल नहीं दे सकती उसके जड़ होने से, जड़ वस्तु फल के देश, काल, परिमाण और स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं हो सकती। कर्म भी स्वयं फल नहीं भुगा सकता क्योंकि वह अस्थिर है चल है अपने क्षण के अनन्तर नहीं रहता और फल तो कर्म के पश्चात् ही मिल सकता है, नष्ट या मृत वस्तु सुख दुःख फल देने में समर्थ नहीं। अतः ईश्वर ही कर्मफल देनेवाला है, अन्य नहीं।

सांख्य दर्शन में भी कहा है—

नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥

(सांख्य० ५।२)

इस सूत्र से पूर्व सूत्र "मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्च" (सांख्य ५।१) में कहा गया था कि अहिंसा आदि मंगल कर्मों का आचरण करना चाहिए शिष्टाचार, फलप्रदर्शन और श्रुतिविधान से। उसमें फल तो ईश्वर के अधीन है पुनः मङ्गलरूप अहिंसा आदि कर्म का आचरण किस लिये इस विमति को हटाने के लिये प्रस्तुत सूत्रमें कहा है कि 'ईश्वराधिष्ठिते' ईश्वर के अधिष्ठान में ‡ केवल ईश्वर के अधिष्ठान में फलसम्पत्ति नहीं है। क्योंकि कर्म से—कर्म द्वारा ईश्वर के अधिष्ठान की सिद्धि होने से। जीवात्माओं के कर्मों की अपेक्षा से ईश्वर का अधिष्ठान-अधिष्ठातृत्व है कर्मों के विना नहीं। अतः विना कर्म के ईश्वर फल नहीं देता वह न्यायकारी है।

क्योंकि विना कर्म के फल प्रदान करना—

‡ 'अधिष्ठितम्—अधिष्ठानम्' "नपुंसके भावे क्तः" (अष्टा० ३।३।११३)

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।। (सांख्य० ५।६)

कर्म की उपेक्षा करके विना राग के फलप्रदान करना नहीं हो सकता, कर्म को अपेक्षित किए विना फल प्रदान में निश्चित राग ही कारण होता है ॥

पुनः—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ।। (सांख्य० ५।७)

यदि कहें ईश्वर में राग हो इस में क्या, तब वह ऐसा ईश्वर नित्यमुक्त नहीं हो सकता, फिर तो वह सांसारिक जीवों जैसा हो जावेगा, जब राग होगा तो द्वेष भी सम्भावनीय है एवं सृष्टि के सुख दुःखों का ग्रास होना पड़ेगा। आगे सांख्य दर्शन में कहा कि "रागविरागयोर्योगः सृष्टिः" (सांख्य० २।६) राग और द्वेष का होना ही सृष्टि है—सृष्टि के सुख दुःख में फंसना है ॥

उक्त सूत्रों से स्पष्ट हुआ कि जीवात्माओं के कर्मों का फल देने के लिये सर्वव्यापक चेतन सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध है। उपनिषद् में कहा है "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः" (श्वेता० ६।११) यहां स्पष्ट ही ईश्वर को कर्माध्यक्ष कहा है।

वेद में भी कहा है—

"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्" (ऋ० ७।४६।३)

मनुष्यों के सत्य-अनृत कर्मों अर्थात् पुण्य पाप कर्मों को देखता हुआ जिन विविध सृष्टियों का राजा वरुण वरने योग्य वरने वाला परमात्मा सर्वत्र प्राप्त है।

शरीर भी पूर्व कर्मानुसार देता है यह भी वेद में कहा है—

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
(अथर्व० ५।१।२)

जो जीवात्मा प्रथम धर्मों–कर्मों को प्राप्त होता है–कर्मों को करता है पुनः हे परमात्मन् बहुत प्रकार के शरीरों को तू करता है–देता है।

वर्तमान देह में भी कर्मफल देता है यह भी कहा है—

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।
(ऋ० १०।४८।५)

मैं दान देने वाले को भोजन पदार्थ देता हूं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि (ऋ० १।१।६)

हे अग्रणायक ईश्वर तू देनेवाले के लिये भद्र करेगा। यहां 'दाशुषे–दत्तवते' कर्म सूचना है।

यह तो जीवों का कर्मफलप्रदाता ईश्वर होने से ईश्वर की सिद्धि हुई। अब सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व से ईश्वरसिद्धि दर्शाते हैं—

सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता ईश्वर—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥ (सांख्य० ३।५६)

इस से पूर्व सूत्र "अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्" (सांख्य० ३।५५) प्रकृति के अकार्य होने पर भी–प्रकृति यद्यपि अकार्य है परन्तु उसे कार्यरूप में जगत् के रूप में आना पड़ता है परवशता से पर के वशवर्तिनी होने से, अतः कारण प्रकृति में लीन होकर जीव की कृतकृत्यता नहीं क्योंकि कारण से पुनः कार्यरूप में जगत् के रूप में प्रकृति को आना पड़ता है पर के अधीन होने से, जो पर है उसे कार्यरूप में जगत् के रूप में परिणत कर देता है। सो वह पर कौन है यह प्रस्तुत सूत्र में कहा

है कि वह सर्ववित्-सर्ववेत्ता-सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। संसार के पदार्थ ज्ञेय हैं अतः समुदित संसार भी ज्ञेय होने से सर्वज्ञ होना चाहिए मनुष्य तो एक खण्ड का भी पूर्ण ज्ञान नहीं रखता और ज्ञेय ज्ञाता को सिद्ध करता है अतः ईश्वर है। इसी भांति संसार कार्य है सर्वकर्ता भी ईश्वर सिद्ध होता है।

इस प्रकार सांख्यमत में स्पष्ट हुआ कि प्रकृति सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता नहीं है जिसके यह अधीन है वह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। जीवात्माओं के लिये प्रकृति का भोग प्रदान और अपने से अपवृक्त करना विमोक्षण कार्य ईश्वर के सान्निध्य से है स्वतन्त्र नहीं जैसा कि कहा है।"....चित्सान्निध्यात्। विमुक्त [विरक्त] मोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य [कर्तृत्वम्]" (सांख्य० २।१) यही बात अभिप्रायान्तर से वेदान्त दर्शन में कही है "तदधीनत्वादर्थवत्" (वेदा० १।४।३) ब्रह्म के अधीन प्रधान—प्रकृति सार्थक है ब्रह्मद्वारा सृष्टि-रचना में।

अत एव—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ (सांख्य० ३।५७)

ऐसे सर्वज्ञ सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि अर्थात् सत्ता सिद्ध है—नित्य है ‡। जिसकी सिद्धि के लिये योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष सांख्य के प्रथमाध्याय में प्रदर्शित किया गया है जिस पर हम आगे विशेषरूप से कहने वाले हैं। जो कि श्रुति से भी प्रमाणित है "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" (तै० उ।१।१) अर्थात् तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। यह सांख्यप्रदर्शित ईश्वर का सर्ववेत्तृत्व और सर्वकर्तृत्व उपनिषदों में भी दर्शाया हुआ है "स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः प्रधानक्षेत्रज्ञ-

‡ "नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महाभाष्ये)

पतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥" (श्वेता० ६।१६)
अर्थात् वह विश्वकर्ता-सर्वकर्ता, विश्ववित्-सर्ववित्, आत्माओं का आधार, चेतन, काल का भी काल, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वविद्या-भण्डार, प्रकृति और जीवात्माओं का पति, सत्त्व आदि गुणों का ईश तथा संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्ध का प्रवर्तक है ॥

सांख्य दर्शन में और भी कहा है—

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ (सांख्य० २।६)

कार्यनिर्माण करने से—प्रकृति को जगद्रूप कार्य में परिणत कर देने से पुरुष अर्थात् ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि है। अतः पूर्व सूत्र "प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः" (५) जीवात्मा के विमोक्षार्थ पुरुष अर्थात् ईश्वर का कर्तृत्व अध्यासरूप है इस प्रसङ्ग पर कहा है कि प्रकृति को कार्यरूप में करदेने से पुरुष अर्थात् ईश्वर नितान्त कर्ता है, जैसा कि कहा है "स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" (सांख्य० ३।५६) ॥

यही बात वेदान्त दर्शन में कही है—

जन्माद्यस्य यतः ॥ (वेदा० १।१।२)

इस इन्द्रियगोचर और मनोगोचर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध होने वाले जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति आदि उत्पत्ति स्थिति नाश जिससे होते हैं वह ब्रह्म जानने योग्य है, जो कि जगत् को उत्पन्न करता है धारण करता है अन्त में इसका संहार करदेता है वह ब्रह्म है—परमात्मा है। यहां 'यतः' पद सामान्यरूप से हेतु प्रदर्शनार्थ है, जैसे "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशे० १।१।२) अर्थात् जिस से अभ्युदय और निःश्रेयस—मोक्ष सिद्ध हो वह धर्म है। तथा "आदित्या-

ज्जायते वृष्टिः" (मनु० ३।७६) आदित्य से वृष्टि होती है। क्योंकि परमात्मा केवल जगत् का उत्पत्तिकर्ता ही तो नहीं किन्तु धारणकर्ता और संहारकर्ता भी होने से वह यहां तीनों उत्पत्ति स्थिति नाश का हेतु—प्रवर्तक है यही जानना चाहिए ॥

यह बात—

शास्त्र से ईश्वर सिद्धि—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ (वेदा० १।१।३)

वेद है योनि–अर्थात् कारण–प्रमाण जिसका वह शास्त्र-योनि शास्त्रप्रमाणक होने से। जगत् के उत्पत्ति आदि का हेतु ब्रह्म–परमात्मा है उसमें शास्त्र अर्थात् वेद प्रमाण है "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (ऋ० १०।८१।३, यजु० १७।१९) "य इमे द्यावापृथिवी जजान" (ऋ० ४।५६।३) अर्थात् आकाश से लेकर भूमिपर्यन्त जगत् को एक परमात्मदेव ने उत्पन्न किया "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजु० १३।४) परमात्मा पृथिवी लोक और द्युलोक को धारण कर रहा है "तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्" (यजु० ३२।८) उस परमात्मा में यह जगत् उत्पन्न भी होता है और विलीन भी होता है। यह शास्त्रतः ईश्वर सिद्धि हुई ॥

न केवल शास्त्र ही ब्रह्म द्वारा जगत् की उत्पत्ति आदि में प्रमाण है किन्तु बाह्यप्रत्यक्षगर्भित अनुमान से भी ईश्वर सिद्ध है-

तत्तु समन्वयात् ॥ (वेदा० १।१।४)

यह वह जगत् का उत्पत्ति आदि कृत्य ब्रह्म के द्वारा समन्वय-सम्यक् अन्वय-सम्यक् अनुगति ‡ अर्थात् कार्यमें कारण

‡ "समन्वयः सम्यगन्वयः" (शब्दार्थचिन्तामणिः)

"अन्वयः कार्ये कारणानुवृत्तिः" (शब्दार्थचिन्तामणिः)

"अन्वयोऽनुगतिः–जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादिति" (भाग० वाच०)

की व्याप्ति से भी सिद्ध है। संसार में कोई भी कार्य वस्तु जो दीखती है उसका कर्ता होना चाहिए ही, घड़े का कुम्हार सौवर्ण भूषण का स्वर्णकार जैसे होता है वैसे जगत्-रूप कार्य का भी कर्ता या प्रवर्तक ब्रह्म होना ही चाहिए † ॥

सांख्य दर्शन में भी कहा है—

समन्वयात् ॥ (सांख्य० १।१३१)

कार्य अपने कारण अर्थात् निमित्त कारण और उपादन कारण से सम्यक् अनुगत होता है। निमित्त चेतन की बुद्धि योग्यता का अनुसरण करता है अपने कर्ता को बतलाता है तथा अवयवों से उपादान कारण को दर्शाता है क्योंकि उपादान निज कार्य के अन्दर अवयव रूप से-समवाय समबन्ध से रहता है। इस प्रकार कार्य जगत् से उसके कर्ता परमात्मा की सत्ता सिद्ध होती है, यह तो हुआ अन्वव परन्तु ब्रह्म के अपने कार्यरूप जगत् में व्यापक होने से वर्तमान होना समन्वय है ॥

सांख्यदर्शन में "यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्" (सांख्य० १।८९) इस सूत्रद्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है, इसमें इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं कहा गया है केवल सम्बन्धमात्र को दिया गया है वह वस्तुसम्बन्ध केवल आत्मा से या आत्मा और मन से अथवा आत्मा, मन और इन्द्रिय से हो। सभी में यह प्रत्यक्ष लक्षण सांख्य दर्शन का

---

†. कार्य में उपादान कारण तो अनुवर्तमान होता है। एक ही ब्रह्म के व्यापक होने से वह भी कार्य जगत् में स्वकीय व्यापकत्व नियन्तृत्व कर्तृत्व गुणों से अनुवर्तमान है ही। गुणों के वर्तमानता से गुणी भी वर्तमान होता है।

सङ्गत हो जाता है। इस प्रत्यक्ष लक्षण में इन्द्रार्थसन्निकर्ष का उल्लेख न करने पर दोष नहीं है यह अग्रिम सूत्र में कहा है॥

आन्तरिक प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्धि—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ (सांख्य० १।९०)

योगियों का अबाह्य अर्थात् आन्तरिक प्रत्यक्ष भी तो होता है वह भी उक्त लक्षण में आ जाता है अतः उक्त प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं है॥

अथवा—

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ (सांख्य १।९१)

सूक्ष्म अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्राप्त अतिशय सम्बन्ध आत्मा और मन के साथ बन जाने से—उनके प्रत्यक्ष होने से उक्त प्रत्यक्ष लक्षण की आवश्यकता है अतः इस सांख्य-प्रदर्शित प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं है॥

योगियों के इस अबाह्य प्रत्यक्ष अर्थात् आन्तरिक प्रत्यक्ष की भी आवश्यकता है क्योंकि—

ईश्वरासिद्धेः ॥ (सांख्य० १।९२)

बाह्यप्रत्यक्ष—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष से ईश्वर के प्रत्यक्ष होने की असिद्धि हो जावे यदि योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष—आन्तरिक प्रत्यक्ष जो यहां सांख्यसूत्र में बताया गया है उसे न माना जावे तो ईश्वर की प्रत्यक्षता सिद्ध न होगी। श्रुति में ईश्वर को प्रत्यक्ष कहा गया है "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि" (तै० उ० १।१।१) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। वेद भी ईश्वर को प्रत्यक्ष कहता है "यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षम्" (अथर्व० ६।६।१) अर्थात्

जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है। अतः ईश्वर योगियों के प्रत्यक्ष का विषय है उसके लिये उक्त प्रत्यक्ष का लक्षण आवश्यक है। यह प्रत्यक्षतः ईश्वरसिद्धि हुई, वस्तुतः बाह्यप्रत्यक्ष तो एक देशी प्रत्यक्ष है यह आन्तरिक सर्वदेशी प्रत्यक्ष और नितान्त प्रत्यक्ष है॥

अत एव—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ (सांख्य० ५।११६)

समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्म जैसा [वासनारहित और आनन्दवान्] आत्मा हो जाता है यह कथन सांख्यकार का ब्रह्मसिद्धि में सार्थक है॥

ईश्वर का स्वरूप—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥ (वैशे० ७।१।२२)

आकाश तथा परमात्मा विभु होने से महान् महापरिमाण-वाला है। इस प्रकार परमात्मा विभु है। वेद में भी कहा है "एतावानस्य महिमा ऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" (ऋ० १०।६०।३) यह जगत् उसकी महिमा है। तथा "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ० १।५२।१२) परमात्मा तू आकाश के भी पार है॥

मीमांसा दर्शनकार भी ईश्वर को मानता है अत एव मीमांसादर्शन में कहा है—

हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् ॥ (मीमां० १।३।१३)

सूत्र में 'हिरण्यगर्भः' स्पष्ट ईश्वर के लिये आया है अत एव 'मन्त्रलिङ्गात्' मन्त्र लिङ्ग वेद मन्त्र को लिङ्ग अर्थात् प्रमाण कहा गया है। मन्त्र में कहा ही है "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै

देवाय हविषा विधेम ॥” (ऋ० १०।१२१।१) हिरण्यगर्भ ईश्वर सृष्टि से पूर्व समस्त उत्पन्न वस्तुजात का स्वामी वर्तमान था वह पृथिवी लोक और द्युलोक को धारण किए हुए है। इस सूत्र के शावरभाष्य में भी कहा है। “कि पूर्व आघार की यह गुणविधि है। कैसे मन्त्र लिङ्ग होने से। इस प्रकार मन्त्रार्थ होता है कि हिरण्यगर्भ सृष्टि से पूर्व था इससे आघार को इस मन्त्र में आघारित करता है। यह वचन है ‘भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्’ उत्पन्न वस्तुमात्र का एक स्वामी है। यहां एक कथन प्रजापति का विधान है वह ही प्रजाओं की उत्पत्ति होने से पूर्व था, प्रजोत्पत्ति से एक संख्यायुक्त वह प्रजापति है यह युक्त है वह यह मन्त्र प्रजापति को बतलाने में समर्थ है और पूर्व आघार भी प्राजापत्य—प्रजापतिसम्बन्धी है, उसके सम्बन्ध में कार्य को सिद्ध करने में यह समर्थ है, उत्तर के सम्बन्ध में नहीं। अथवा उत्तर के मन्त्रार्थ होने से। “कस्मै देवाय हविषा विधेम” में ‘कस्मै—एकस्मै’ एक देव के लिये हवि से परिचर्या करें। यहां ‘कस्मै’ में एकार लोप मान इन्द्र की कल्पना है” ‡।

इस प्रकार उक्त जैमिनिसूत्र और शावरभाष्य से ईश्वर

---

‡ पूर्वस्याघारस्य गुणविधिरयम्। कुतः। मन्त्रलिङ्गात्। एवं मन्त्रार्थो भवति। हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्याघारमाघारयत्यत्र मन्त्रे, इदमस्ति वचनं भूतस्य जातः पतिरेक आसीदिति। एक इति प्रजापतेरभिधानमिति। स हि प्रजोत्पत्तिसम्भवात् प्राक्, प्रजोत्पत्तेरेकसंख्यायुक्त इति गम्यते। स एष मन्त्रः प्रजापतिमभिवदितुं शक्नोति प्राजापत्यश्च पूर्व आघारः। तत्रायं समर्थः कार्यं निर्वर्तयितुं नोत्तरस्मिन्। उत्तरस्य वा मन्त्रार्थत्वात्, कस्मै देवाय हविषा विधेम एकारलोपेन (शावर भाष्यम्)

का प्रतिपादन मीमांसादर्शन में स्पष्ट है। तथा जैमिनि मुनि ब्रह्म को मानते थे यह बात वेदान्त दर्शन के "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" (वेदा० ४।४।७) इस सूत्रद्वारा मुक्ति में जीव किस स्थिति में या किस आधार पर रहता है इस विषय में जैमिनि का मत दिखलाया है कि "ब्राह्मरूप–ब्राह्म शरीर-ब्रह्म को आधार बना कर रहता है इस कथन से और भी स्पष्ट है कि जैमिनि मुनि ब्रह्म को मानते थे। मीमांसा का विषय या क्षेत्र कर्म काण्ड होने से ईश्वर का प्रतिपादन या उसका व्याख्यान करना उसके तन्त्र का विषय नहीं है। मीमांसा दर्शन में तो आत्मा शब्द भी नहीं आता फिर क्या वह आत्मा को नहीं मानता था ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है, सो कदापि नहीं। अतः मीमांसाकार भी ईश्वर को मानता था यह निश्चय है॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ (वेदा० १।१।२२)

आध्यात्मिक प्रकरण में आकाश भी परमात्मा का नाम है परमात्मा का वहां लिङ्ग पाए जाने से। "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २।७) 'कौन जीवे और कौन प्राण ले सके यदि वह आकाश आनन्द न हो।' इस कथन में आकाश परमात्मा के लिये आया है।

तथा

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ (वेदा० १।३।४१)

"आकाशो वै नामरूपयो निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छान्दो० ८।१४।१) वस्तुओं के नाम और रूपों का निर्वर्तक रचयिता आकाश नाम से कहा जाने वाला परमात्मा समस्त विश्व को प्राप्त तथा अवकाश देने से विश्व का और आकाश का भी आकाश एवं उससे भिन्न हो बाहिर भी

वर्तमान है तथा जो चेतन आत्माओं का भी आकाश है।

वेद में भी कहा है—

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजु० ३२।८)

वह सब में व्यापक है।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः (ऋ० १०।९०।३)

यह सारा संसार उसकी महिमामात्र है वह पुरुष-पूर्ण परमात्मा इस संसाररूप महिमा से महान् है।

ओ३म् खं ब्रह्म (यजु० ४०।१७)

ख अर्थात् आकाश के समान सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा कहा है।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः (ऋ० १।५२।१२)

ईश्वर तू लोक एवं आकाश के भी पार है॥

अत एव प्राणः ॥ (वेदा० १।१।२३)

अध्यात्मशास्त्र में परमात्मा को प्राण भी कहा गया है, समस्त जड़ जङ्गम का प्राण होने से वह प्राण नाम से कहा गया है। "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छान्दो० १।११।५) सारे ये भूत-पदार्थ प्राणरूप परमात्मा में निविष्ट होते हैं और प्राणरूप परमात्मा में ही उत्पन्न होते हैं॥

वेद में कहा है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० ११।४।१)

प्राणरूप परमात्मा के लिये नमस्कार हो जिसके वश में सब हैं, जो सब का ईश्वर-स्वामी है जिस में सब प्रतिष्ठित है॥

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ (वेदा० १।१।१२)

ईश्वर आनन्दस्वरूप होने से आनन्दमय भी अध्यात्म-ग्रन्थ में कहा गया है; अध्यात्म योगाभ्यास से उसके आनन्दस्वरूप अनुभूत होने से। तारतम्यदृष्टि से अनुभव में आनन्दस्वरूप परमात्मा ही होता है। जैसा कि कहा है "एतस्माद्—विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" (तै० उ० २।५) इस विज्ञानमय से अन्य भीतर गया हुआ आत्मा अर्थात् स्वरूप आनन्दमय है। मयट् प्रत्यय वस्तुवाचक शब्द से विकार अर्थमें आता है जैसे काष्ठमय मृन्मय। और गुणवाचक से प्राचुर्य-अतिशयार्थ में होता है उसके विरोधी गुण के लेशमात्र सम्पर्कनिषेधार्थ। जैसे रसमय—शुष्कतारहित ज्योतिर्मय अन्धकारलेशरहित विज्ञानमय अविद्यारहितता एवं आनन्दमय दुःख लेशरहित॥

परमात्मा आनन्दस्वरूप है यह बात सांख्यदर्शन में भी कही है—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयो र्भेदात् ॥ (सांख्य० ५।६६)

परमात्मा और जीवात्मा इन दोनों में एक के अर्थात् जीवात्मा के आनन्दरूपत्व और चिद्रूपत्व—चेतनत्व ये दोनों धर्म नहीं वह तो चित्—चेतन ही है, परमात्मा के तो दोनों धर्म आनन्दरूपत्व और चिद्रूपत्व—चेतनत्व हैं ही। भेद से वर्णन पाए जाने से "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तै० उ० २।७) वह परमात्मा रस है—आनन्दरूप है उस रसरूप आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनन्दी आनन्दवान् हो जाता है। यहाँ स्पष्ट ही जीवात्मा से भिन्न परमात्मा को आनन्दरूप [illegible]

न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २।४) ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त कर किसी से नहीं डरता है ॥

वेद में भी कहा है—

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥
(ऋ० ७।८६।२)

हाँ मैं अपनी देह से संवाद करता हूं—पूछता हूं कि तो फिर मैं कब वरुण—वरणीय और वरणकर्ता परमात्मा के अन्दर हो जाऊं, वह मेरी किस भेंट को स्वागत से स्वीकार कर सके पुनः कब मैं उस मृडीक—सुखस्वरूप ‡ आनन्दरूप परमात्मा को पवित्रमनवाला होकर देख सकूं। तथा—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
(अथर्व० १०।८।४४)

परमात्मा अकाम है धीर है अमृत है स्वयम्भू है और रस अर्थात् आनन्द से परिपूर्ण है किसी भी प्रकार से आनन्द की कमी नहीं। अपितु—

शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः (यजु० ३६।२)

विश्व का स्वामी परमात्मा हमारे लिये कल्याणरूप हो।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ (वेदा० १।१।४०)

अध्यात्म दृष्टि में परमात्मा को ज्योति भी कहा है उसके ज्योतिःस्वरूप होने से "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छान्दो० ८।१२।३) यह जीवात्मा इस शरीर से मुक्त हो पर ज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर अपने निर्मल रूप में आता है। "हिरण्मये परे

---

‡ "मृड सुखने" (तुदादिः) "मृडः कीकच्" (उणा० ४।२४)

कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् ब्रह्मविदो विदुः॥" (मुण्ड० ४।४।१६) हिरण्मय पर कोश में निर्मल निष्कल ब्रह्म है वह शुभ्र तथा ज्योतियों का ज्योति है उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं। "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायु र्होपासतेऽमृतम्" (बृह० ४।४।१६) मुक्त आत्माएं उस ज्योतियों के ज्योति अमृत ब्रह्म को अपने मुक्तिकाल में आयु समझकर सेवन करते हैं।

वेद में भी परमात्मा को ज्योतिस्वरूप कहा है—

ध्रुवं ज्योति र्निहितं दृशये कं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं केतुमभिवियन्ति साधु॥
(ऋ० ६।९।५)

प्राणियों के हृदय में जो मन से भी वेगवान् सुखस्वरूप ज्योति विराजमान है उस एक प्रज्ञान ब्रह्म को सब विद्वान् मनस्वी प्राप्त होते हैं॥

सांख्यदर्शन में भी जीवात्मा से भिन्न परमात्मा की सत्ता का प्रतिपादन है—

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः॥ (सांख्य० ५।६१)

आत्मतत्त्व केवल एक परमात्मा या जीवात्मा ही हो ऐसा नहीं किन्तु भिन्न भिन्न लिङ्ग से भेद साक्षात् होता है। वेद में दोनों परमात्मा और जीवात्मा का लिङ्ग पृथक् पृथक् स्पष्ट प्रदर्शित है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"॥ (ऋ०-१।१६४।२०) दो सुपर्ण जीवात्मा और परमात्मा समानधर्मा चेतन एक ही प्राकृतिक संसाररूप वृक्ष पर समाविष्ट हैं उन दोनों में एक जीवात्मा तो फल स्वाद से खाता है भोगता है दूसरा

परमात्मा बिना खाए भोगे साक्षी बना हुआ है। यहां स्पष्ट ही वेद में भोक्ता और अभोक्ता साक्षी क्रमशः जीवात्मा और परमात्मा पृथक् पृथक् कहे हैं॥

उक्त परमात्मा का जैसे जीवात्मा के साथ एकीभाव नहीं एवं अनात्मा—जड प्रकृति के साथ भी एकीभाव नहीं है यह भी सांख्य दर्शन में वहीं कहा है—

नानात्मनाऽपि प्रत्यक्षबाधात्॥ (सांख्य० ५।६२)

अनात्मा—जड प्रकृति के साथ भी परमात्मा अद्वैत—एकीभाव—एकरूपत्व को प्राप्त हुआ नहीं है प्रत्यक्ष बाध दोष से। जगत् प्रत्यक्ष ही परिणामवाला देखने में आता है सो परिणामिनी प्रकृति का ही परिणाम जगत् है, चेतन परमात्मा का नहीं उसके अपरिणामी होने से। चेतनाचेतन—आत्मानात्मा का अद्वैत ऐक्य—एकरूपत्व नहीं बन सकता, अपि च वह परमात्मा तो प्रकृति को जगद्रूप परिणाम देने वाला है "एकं बीजं बहुधा यः करोति" (श्वेता० ६।१२) एक बीज-प्रकृतिरूप एक बीज को जो नाना रूपों में कर देता है॥

वेद में भी परिणामिनी प्रकृति—अव्यक्त को परिणाम देने वाला और उसका स्वामी परमात्मा बतलाया है—

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
सोऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋ० १०।१२९।३,७)

सृष्टि से पूर्व जो 'आभु'—अव्यक्त प्रकृतिनामक कारण छिपा हुआ था वह ईश्वर के ज्ञानमय तप से सिमट कर एक महत्तत्त्व पदार्थ प्रथम परिणाम हुआ। पुनः यह विविध सृष्टि जिस

अव्यक्त से 'आबभूव' व्यक्त हुई प्रकट हुई उसका वह परमात्मा अध्यक्ष कहा है ॥

इस प्रकार परमात्मा की सत्ता जीवात्मा और प्रकृति की सत्ता से पृथक् है। परमात्मा आनन्दस्वरूप है यह अभी पीछे "नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्" (सांख्य० ५।६६) से दर्शा आए ही हैं ॥

वह परमात्मा—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ (वेदा० १।३।१)

द्युलोक भूलोक आदि समस्त लोकों का आयतन है, द्युभू आदि के आयतन प्रकरण में परमात्मविषयक शब्द स्पष्ट पढ़े जाने से "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं···तमेवैकं जानथात्मानम्" (मुण्ड० २।२।५) जिस में द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष ओत प्रोत हैं उसे ही परमात्मा जानो। तथा वेद में "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (ऋ० १०।१२१।१) उस परमात्मा ने पृथिवी लोक और द्युलोक को धारण किया हुआ है। तथा "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो ऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" (ऋ० १०।१२१।५) जिस ने प्रदीप्त द्युलोक को और पृथिवी को सम्भाला हुआ है जिसने नक्षत्र मण्डल और आदित्य को भी नियन्त्रित किया हुआ है तथा जो अन्तरिक्ष में लोकमात्र को सम्भाले हुए हैं उस सुखस्वरूप या प्रजापति परमात्मा को आत्मभावनारूप हवि से पूजते हैं। अपि तु "यत्र विश्वं भवत्येकनीडं तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ॥" (यजु०-३२।८) जिसमें विश्व एक घोंसले के समान है उसी में सब उत्पन्न और विलीन होता है ॥

अन्तर्यामी परमात्मा—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मोपदेशात् ॥ (वेदा० १।२।१८)

वेदान्त दर्शन में परमात्मा को अन्तर्यामी भी कहा है क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्रतारा आदि अधिदैव पदार्थों में तथा प्राण, नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, मन आदि आध्यात्मिक वस्तुओं में अन्तर्यमन करने धर्मवाला उपदिष्ट है। "यः पृथिव्यां तिष्ठन्...पृथिव्या अन्तरो यमयति स ते ऽन्तर्याम्यमृतः" (बृह० ३।७।१) जो पृथिवी में रहता है और पृथिवी से भिन्न होकर पृथिवी का यमन करता है वह तेरा प्रष्टव्य अन्तर्यामी अमृत परमात्मा है। तथा "यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो....प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह० ३।७।१७) इत्यादि वचनों में कहा है कि जो प्राण में ठहरा हुआ प्राण से भिन्न प्राण का यमन करता है वह तेरा प्रष्टव्य अन्तर्यामी अमृत है॥

वेद में भी परमात्मा को अन्तर्यामी कहा गया है—

> इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
> इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः॥
> (ऋ० ८।३।६)

ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने अपने महत्त्व से द्युलोक पृथिवी लोक को फैलाया, उसी इन्द्र ने सूर्य को प्रकाशमान किया। उसी इन्द्र परमात्मा के अधीन समस्त भुवन तथा उत्पन्न होते हुए अणु—तन्मात्राएं भी नियन्त्रित हैं॥

जीवात्मा से परमात्मा महान् है—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ (वेदा० २।१।२२)

जीवात्मा के अन्दर परमात्मा व्यापक होने पर भी जीवात्मा के सुख दुःख से उसका सम्पर्क नहीं क्योंकि परमात्मा इससे महान् है। जीवात्मा से उसके भिन्न होने का निर्देश है "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" (शत० १४।३।७।३०) जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा से भिन्न है ॥

वेद में भी कहा है—

एतावानस्यमहिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(ऋ० १०।६०।३)

यह संसार उसकी महिमा है और वह परमात्मा इससे महान् है, सारे भूत उसके एक पादमात्र हैं त्रिपाद् अमृत प्रकाशस्वरूप में है। जीवात्मा एक शरीरवर्ती है, परमात्मा तो शरीर से ही नहीं किन्तु समस्त विश्व से भी महान् है। तथा—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
(अथर्व० १०।८।२५)

दोनों जीवात्मा और परमात्मा में एक जीवात्मा तो बाल से भी अणु है-छोटा है और परमात्मा नहीं दीखता-जैसा है।

तथा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचा-
कशीति ॥ (ऋ० १।१६४।२०)

जीवात्मा फल भोगता है परमात्मा साक्षीमात्र है। अतः जीवात्मा से परमात्मा महान् है स्वरूप से महान् है गुणों से महान् है।

वह ईश्वर—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

(योग० १।२४)

ईश्वर पुरुष अर्थात् चेतन है जड़ नहीं और पुरुषों—चेतनों में पुरुषविशेष—चेतनविशेष है, सो भी बन्धन से छूटकर मुक्त हुआ पुरुषविशेष—मुक्तजीव नहीं किन्तु वह तो अविद्या आदि क्लेशों, पुण्य पाप कर्मों, कर्मफलों-सांसारिक सुख दुःखों तथा सुखदुःखानुभूति से उत्पन्न वासनाओं से सर्वथा सर्वदा सम्पर्क-रहित है। अत एव वेद में उसे अकाम कहा है "अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू..."(अथर्व० १०।८।४४) जब कामना अर्थात् वासना ही नहीं तो सुखदुःख भोग का क्या सम्बन्ध, इसी लिये वेद में "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० १।१६४।२०) जीवात्मा फल का भोक्ता है परन्तु उससे भिन्न जो ईश्वर है वह न भोगता हुआ साक्षी मात्र है भोक्ता नहीं। जब भोगप्रसङ्ग ईश्वर में नहीं तब पुण्य पाप कर्म के सम्पर्क से भी पृथक् हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति-प्रलय करना और जीवों को कर्मफल देना ही उसके कर्म हैं अन्य सुखदुःख के निमित्त कर्म नहीं, अत एव उपनिषद् में कहा है कि "स न साधुना कर्मणा ज्यायान् न ह्यसाधुना कर्मणा कनीयान् भवति" (बृह० ४।४।२२) कोई पुण्य कर्म उसे कर्तव्य नहीं जिससे वह कोई उत्कृष्टता बड़पन प्राप्त करे और पाप कर्म भी उसे कर्तव्य नहीं जिससे वह निकृष्ट बने। किन्तु ईश्वर तो ऐसे कर्मों के मूल रूप अविद्या आदि क्लेशों से भी पृथक् है ॥

अपितु—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ (योग० १।२५)

इसमें सर्वज्ञ होने का बीज अतुल है-असीम है। चेतन में

ज्ञान होता है अतः चेतन को 'ज्ञः' ज्ञानवान् कहा जाता है, विशेष ज्ञानवान् होने से विज्ञ माना जाता है और जो सर्वज्ञानसम्पन्न हो वह सर्वज्ञ हुआ, सर्वज्ञ भी निरतिशय–अतुल–असीम पुनः वह असीमता सर्वज्ञबीजों की समस्त ज्ञानवृत्तों के बीजों की जिसमें हो वह ईश्वर है ॥

वेद में भी कहा है—

स प्रजाभ्यो विपश्यति यश्च प्राणिति यश्च न ।

(अथर्व० ३१।४।११)

वह ईश्वर समस्त वस्तुओं को जानता है जो प्राण ले रही हो और जो प्राण न ले रही हो ।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

(ऋ० १०।८२।३)

जो हमारा पिता है जनक है कर्मफलविधाता है समस्त धामों और लोकलोकान्तरों को जानता है ॥

वह ऐसा ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (योग. १।२३)

पूर्व–विशेषज्ञ ब्रह्मा आदि ऋषियों एवं उनकी अपेक्षा अतिविशेषज्ञ वेदाभिनायक अग्नि आदि परम ऋषियों महर्षियों का भी गुरु है क्योंकि काल से उसका अवच्छेद–नाश नहीं होता है वह तो सदा गुरु है पूर्व गुरुओं का भी गुरु है । गुरुपरम्परा को यदि पूर्व पूर्व ले चले उससे पूर्व पुनः उससे पूर्व इत्यादि क्रम चलावें तो वेद का प्रकाश आदि ऋषियों के अन्तःकरण में देने से आदिगुरु ईश्वर ही ठहरता है

वेद में भी कहा है—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युकथ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥
(ऋ० १।४०।५. अथर्व० ३।४।५७)

ब्रह्मणस्पति परमात्मा निश्चित प्रशस्त प्रवचन करने योग्य मन्त्र अर्थात् वेद का उपदेश देता है। जिसमें इन्द्र आदि चार ऋषियों ने अपना स्थान बनाया हुआ है। इन्द्र–वायु, वरुण–अङ्गिराः, मित्र–अग्नि, अर्यमा–सूर्य। ये चारों ही चार वेदों के देव हैं और उपाधिरूप में ये चारों नाम ही वेकप्रकाशक आदि ऋषियों के नाम भी हैं। इस प्रकार ईश्वर गुरुओं का भी गुरु हुआ ॥

उस ऐसे ईश्वर के—

ईश्वरप्राणिधानाद्वा ॥ (योग० १।२३)

उस ऐसे ईश्वर में प्रणिधान करने से–स्वसमर्पण करने से मन स्थिर होजाता है ‡।

एवम्—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ (वेदा० १।२।१)

सर्वत्र उपासनाप्रकरण में उपास्यरूप से परमात्मा ही प्रसिद्ध उपदिष्ट है तथा उसकी उपासना का प्रसिद्ध उपदेश है या वही उपासना के उपदेशों में प्रसिद्ध है ॥

अतः—

न प्रतीके न हि सः ॥ (वेदा० ४।१।४)

प्रतीक में—मूर्ति आदि जड़ में परमात्मबुद्धि न करनी चाहिए क्योंकि वह परमात्मा नहीं है ॥

---

‡ धान=धरना, निधान=छिपाना जैसे निधि निहीत, प्रणिधान=समर्पित करना–सौंपना।

वेद में भी ऐसा निषेध मिलता है—

न तस्य प्रतिमा ऽस्ति यस्य नाम महद्यशः (यजु० ३२।३)
उसकी प्रतिमा नहीं है जिसका नाम महायशस्वी है—परमात्मा है ॥

किन्तु—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ (योग० १।२७)

उसका वाचक उसे यथावत् दर्शानेवाला प्रणव अर्थात् ओ३म है। ओ३म् ही उसकी प्रकृष्ट—यथार्थ स्तुति का साधन नाम है। ओ३म् वाचक है और ईश्वर वाच्य है। नाम तो ईश्वर के अन्य भी हैं जैसे "अग्निं मित्रं वरुणमाहु र्दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋ० १।१६४।४६) अग्नि, मित्र, वरुण, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि बहुत नामों से उस एक को विद्वान् जन कहते हैं। परन्तु यह सब नाम गौणिक या कार्मिक अर्थात् किसी एक गुण या कर्म को लेकर हैं, किन्तु ये प्रणव नहीं कहलाते केवल ओ३म् नाम ही प्रणव है प्रकृष्ट रूपसे स्तुति में अनुष्ठान करने योग्य है।

वेद में भी कहा है—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओ३म, खं ब्रह्म ॥
(यजु० ४०।१७)

जो यह सूर्य में पूर्ण पुरुष है सो मैं ओ३म् व्यापक ब्रह्म हूं। यह ईश्वर स्वयं कहता है ॥

अतः—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ (योग० १।२८)

उस ओ३म् का जप और उसके अर्थ का भावन—अपने अन्दर सम्पादन—अनुभूति—प्राप्ति करनी चाहिए ॥

इस पर व्यासभाष्य में कहा है कि "स्वाध्यायाद् योगमासीद् योगात् स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥ स्वाध्याय अर्थात् ओ३म् के जप से योग अर्थात् उसके अर्थभावन को आत्मा में स्थान दे पुनः अर्थभावन से जप को करे, इस प्रकार दोनों की एक प्रवृत्ति से परमात्मा का प्रकाश होता है।

ओ३म् का अर्थ साकल्यरूप से तो माण्डूक्योपनिषद् में दिया है परन्तु शाब्दिक अर्थ संक्षेप में यह है कि 'अवति रक्षतीति-ओम्' रक्षा करने वाला। संसार में जितने भी रक्षक हैं उन सबसे अधिक तथा सर्वथा और सर्वदा रक्षक वही है। माता रक्षा करती है, पिता रक्षा करता है, गुरु रक्षा करता है, मित्र रक्षा करता है, राजा रक्षा करता है, घर भी रक्षा करता है, परन्तु परमात्मा इन से भी अधिक रक्षा करता है। सर्वथा रक्षा करता है ऐसा मान और जान कर शरीर शिथिल कर उसमें निजसमर्पण कर तन्मय हो जप करे ॥

वेदान्त दर्शन में भी कहा है—

ध्यानाच्च ॥ (वेदा० ४।१।८)

ध्यान से भी उसकी उपासना बनती है। परमात्मा का केवल श्रवण ही पर्याप्त नहीं किन्तु ध्यान भी करना आवश्यक है ॥

वेद में भी ओ३म् के स्मरण का विधान है—

ओ३म् क्रतो स्मर। (यजु० ४०।१५)

हे क्रियाशील और ज्ञानवान् मनुष्य तू ओ३म् का स्मरण कर ओ३म का ध्यान कर।

ईश्वरप्रणिधान या ईश्वरोपासना के लाभ—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥

(वेदा० ३।३।५२)

अनुबन्ध अर्थात् फल परमात्मा के साथ ताद्विध्य-तत्सादृश्य तद्धर्मप्राप्ति—उसके गुणों की प्राप्ति है, इसमें शब्द प्रमाणका बाहुल्य है। "यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डको० ३।२।६) जो उस परम ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है—परम ब्रह्म के अधिकांश में गुण धारण करता है "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।" (मुण्डको०-३।१।३) जब देखने वाला ज्ञानी जन स्वर्णरूप शुभ्र कर्ता वेद-प्रतिपाद्य परमात्मा को देखता है तब वह पुण्यपाप को छोड़ कर निःसङ्ग हो अभीष्ट समानता को प्राप्त करता है॥

योग दर्शन में कहा है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥

(योग० १।२९)

ईश्वरप्रणिधान से अन्तरात्मा का अर्थात् अपने स्वरूप का दर्शन-बोध होजाता है और व्याधि आदि नौ अन्तरायों-विघ्नों का आभाव हो जाता है॥

तथा—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥

(वेदा० ४।१।१३)

ब्रह्म की उपासना से उसका बोध या उसकी प्राप्ति होजाती है और आगे होने वाले तथा पूर्व के पापों का असम्पर्क और विनाश होजाता है, ब्रह्मप्राप्ति से पूर्व पाप का सम्पर्क नहीं रहता

भविष्य में पाप कर्म करने का प्रसङ्ग नहीं होता ऐसा शास्त्र का निर्देश है "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुण्डको० २।२।८) उस पर अवर जिससे परे कोई नहीं और जिस से अवर कोई नहीं ऐसे ब्रह्म के साक्षात् होजाने पर कर्म क्षीण हो जाते हैं। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यत एवं एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।" (छान्दो० ४।१४।३) जैसे कमलपत्र पर जल नहीं लगता ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता को पाप नहीं छूता॥

यहां तक यह दार्शनिक ईश्वरप्रकरण था, इस प्रकरण में ईश्वर को निम्नरूपों में देखा गया या माना गया है—

१–सृष्टि का कर्ता धर्त्ता संहर्ता।

२–जीवोंका कर्मफलप्रदाता।

३–मुक्तात्माओंके मोक्षसुखका आधार।

४–सृष्टि से एवं उसके उपादान कारण प्रकृति से महान्।

५–सर्वज्ञ एवं अतुल सर्वज्ञ।

६–विभु एवं अनन्त।

७–योगियों द्वारा प्रत्यक्ष।

८–पूर्व ऋषियों का भी गुरु।

९–आनन्दरूप एवं सच्चिदानन्दस्वरूप।

१०–ज्योतिःस्वरूप।

११–सब का प्राणरूप।

१२–सर्वाधार।

१३–क्लेश-कर्म-फल-वासना से रहित।

१४–उसके प्रणिधान या उपासना या जप का साधन ओ३म् नाम।

१५–प्रतीकोपासना का निषेध।

१६-उसके प्रणिधान या जप या उपासना का फल उसके गुणों की प्राप्ति और आनन्दलाभ तथा अपने स्वरूप का बोध एवं सांसारिक विघ्ननाश तथा संसारसे विमुक्ति अर्थात् मोक्षलाभ।

आत्मा-जीवात्मा

आत्मा का अस्तित्व-

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ (सांख्य० ६।१)

इस से पूर्व सूत्र अर्थात् पञ्चमाध्याय के अन्तिम सूत्र में देह में भूतचैतन्य का निराकरण कर देने के अनन्तर चैतन्य का आधार इस प्रस्तुत सूत्र में कहा है कि आत्मा है। नहीं है इसमें साधन का अभाव है, प्रत्येक प्राणी अपने आत्मा की "अहमस्मि-मैं हूँ" यह अनुभूति करता है, इस अपने 'अहंरूप-मैं रूप चेतन का निराकरण नहीं किया जा सकता ॥

जीवात्मा का स्वरूप—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

(न्याय० १।१।१०)

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छः आत्मा के लक्षण हैं।

उक्त लक्षणों में प्रथम तीन कर्म हैं और अन्य तीन गुण हैं। इच्छा और द्वेष तो मन के कर्म हैं, प्रयत्न इन्द्रियों और शरीर का कर्म है। जैसे इन्द्रियों और शरीर से कर्म पुण्यपापरूप होते हैं वैसे ही मन के कर्म इच्छा और द्वेष दोनों भी पुण्य और पाप के रूप में हुआ करते हैं। जिससे सर्वहित हो ऐसी इच्छा पुण्य है

और जिससे सर्वहित का नाश हो वह पाप है, तथा द्वेष भी सर्व-हित साधक पुण्य होता है जबकि अनिष्ट या बुराई से द्वेष (घृणा) हो। जब इष्ट या भलाई से द्वेष हो तब पापरूप होता है। जिस प्रकार ऐन्द्रियिक और शारीरिक कर्मका फल ईश्वर की ओर से सुखदुःख होता है ऐसे ही मानसिक कर्म इच्छा और द्वेष का भी ईश्वर की ओर से फल प्रसन्नता, उत्साह, रुचि और ग्लानि, लज्जा भय शङ्का होते हैं।

उक्त लक्षणों में तीन परस्पर प्रतिद्वन्द्वी युगल (विरोधी जोड़े) हैं। इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न-ज्ञान। अनुकूल की इच्छा प्रतिकूल से द्वेष, अनुकूल अनुभूति सुख और प्रतिकूल अनुभूति दुःख है। शरीर और इन्द्रियों की चेष्टा अर्थात् बाहिरी चेष्टा प्रयत्न और मन का विकास या आन्तरिक विकास ज्ञान कहलाता है।

सुख एवं सुखसाधनों के लिये इच्छा और दुःख एवं दुःख कारणों के लिये द्वेष की प्रवृत्ति होती है। तथा प्रयत्न या पुरुषार्थ का अन्तिम लक्ष्य ज्ञान-यथार्थ ज्ञान है।

न्याय दर्शन में प्रदर्शित जीवके उक्त लक्षण प्रायः भीतरी हैं, बाह्य लक्षण जिनसे किसी वस्तु को उसके बाहिरी आकार को देख कर जाना जासके कि इसमें जीवात्मा है वे ऐसे लक्षण वैशेषिक दर्शन में निम्न दिए हैं—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ (वैशे० ३।२।४)

प्राण श्वास लेना, अपान-श्वास छोड़ना, आंख बन्द करना, आंख खोलना, जीवन-जीना, मन--सोचना विचारना, गति-अङ्गचेष्टा, इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियविकार अर्थात् अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति और अनुभूति, सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न।

ये आत्मा के लक्षण हैं ॥

योग दर्शन में—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥

(योग० २।२०)

द्रष्टा—आत्मा यद्यपि दृक् शक्तिमात्र शुद्ध अर्थात् केवल चेतन है तथापि सांसारिक प्रत्ययों—प्रतीतियों—ज्ञानों का अनुभव करनेवाला है। द्रष्टा होने से दृश्य तो देखने ही हैं। उन जड दृश्यों से पृथक् चेतन होता हुआ भी उनसे अपना सम्पर्क बनाता है ही। दृश्यों के साथ सम्पर्क बनाने से द्रष्टा आत्मा की सत्ता भी सिद्ध होती है अन्यथा दृश्यों को दृष्टिपथ न लाने पर—अनुभव न करने पर यह द्रष्टा है चेतन है आत्मा है इस में क्या प्रमाण? जड़ वस्तु भी तो अन्य दृश्य के सम्पर्क की अनुभूति से रहित होती है ॥

वह यह आत्मा—

न, आत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ (वेदा० २।३।१७)

आत्मा उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति नहीं है, अपितु उन श्रुतियों से उसका नित्यत्व प्रदर्शित किया गया है "न जायते म्रियते वा विपश्चित्....अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठो० १।२।१८) आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, अजन्मा नित्य सदा से वर्तमान है "न जीवो म्रियते" (छान्दो० ६।११।३) जीव मरता नहीं है। जब मरता नहीं तब नित्य रहने वाला हुआ यह इस वचन में लक्षित है ॥

तथा—

तस्य च नित्यत्वात् ॥ (वेदा० २।४।१६)

नेत्र आदि इन्द्रियां भोगों के लिये उपकरण हैं और भोग करने वाला है आत्मा उसके नित्य होने से ॥

वेद में भी कहा है—

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे (अथर्व० १०।८।२६)

यह आत्मा देवता शरीररूप घर में पवित्र अजर अमर है।

अपि च—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ (न्याय० ४।१।१०)

आत्मा के नित्य होने से ही पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। पुनर्जन्म का होना शास्त्रप्रदर्शित है "स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते" (ऐ० उ० ४।४) वह इस शरीर से अलग होते ही पुनर्जन्म धारण करता है ॥

वेद में भी कहा है—

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः।
(ऋ० १।१६४।३०)

मृत देह का अमर्त्य—न मरने वाला जीवात्मा स्वधारणाओं—निज वासनाओं द्वारा पूर्व शरीर से निकल कर अगले शरीर में चला जाता है वह न मरनेवाला पुनः मर्त्य—मरणधर्मी देहादि के साथ समानाश्रय हो जाता है ॥

पुनः वह नित्य आत्मा—

ज्ञोऽत एव ॥ (वेदा० २।३।१८)

जबकि वह जीव नित्य आत्मरूप में—चेतनरूप में है अत एव ज्ञानवान् है, कहा भी है "अथ यो वेद जिघ्राणीति स आत्मा" (छान्दो० ८।१२।४) जो जानता है, कि मैं सूंघता हूं वह आत्मा है "एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा

पुरुषः" (प्रश्नो० ४।९) यह ही द्रष्टा श्रोता घ्राणकर्ता रस लेने वाला मननकर्ता बोधवाला कर्ता–कर्मकर्ता विज्ञानात्मा–विज्ञान-स्वरूप पुरुष है। "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त ज्योतिः पुरुषः" (वृहदा० ४।३।७) कौनसा आत्मा ? ऐसा पूछने पर उत्तर है कि जो यह प्राणों—इन्द्रियों में इन्द्रियविषयों की अनुभूति करने में कि मैं सूंघता हूं मैं स्वाद लेता हूं मैं देखता हूं मैं छूता हूं मैं सुनता हूं इत्यादि विज्ञान का आधार हृदय के अन्दर ज्योतिर्मय पुरुष है वह आत्मा है॥

तथा—

आभास एव च ॥ (वेदा० २।३।५०)

यह आत्मा—जीवात्मा ज्ञानवान् होता हुआ भी सर्वज्ञ नहीं, सर्वज्ञ तो परमात्मा ही है किन्तु यह तो 'आभासः—इष-द्भासः' अल्पज्ञ अल्पशक्तिवाला है न संसार के समस्त पदार्थों को जान सकता है और न परमात्मा को पूर्णरूप से जान सकता है।

वेद में भी कहा है—

न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।

(ऋ० १।१६४।३६)

मैं अपने स्वरूप को नहीं जानता कि मैं यह ऐसा हूं, क्योंकि निण्य और सन्नद्ध हूं अर्थात् शरीर के अन्दर छिपा हुआ और बन्धा हुआ हूं तथापि मन से व्यवहार करता हूं। जानता हूं यथाशक्ति जानता हूं जहां तक मन की गति होती है वहां तक ही जानता हूं अधिक नहीं जानता या सब कुछ नहीं जानता अपने को भी पूर्ण या यथावत् नहीं जानता हूं परमात्मा और उसकी कला सृष्टि को पूर्ण जानना तो दूर रहा॥

जीवात्मा अणु है—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।। (वेदा० २।३।२१)

सूत्र में विभुत्व का पूर्वपक्ष करके समाधान में आत्मा के अणुत्व का स्थापन किया है । आत्मा अणु नहीं अणुभिन्न अर्थात् विभुत्वप्रतिपादक श्रुति होने से "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृह० ४।४।२१) अर्थात् वह यह आत्मा अजन्मा महान् है जो यह प्राणों में विज्ञानमय है। यहां "प्राणेषु विज्ञानमयः" जो जीवात्मा है उसे महान् कहा है। इस प्रकार यदि कहा जावे तो ठीक नहीं क्योंकि इतर अर्थात् जीवात्मा से भिन्न परमात्मा का अधिकार–प्रकरण चला हुआ होने से क्योंकि इस वचन से पूर्व "विरजः पर आकाशात्" अर्थात् निष्पाप और आकाश से भी परे वर्तमान परमात्मा का वर्णन चल रहा है तथा उसी वचन में भी "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति-रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" यह सर्वेश्वर यह भूतपति यह भूतपाल यह आधार सेतु है इन लोकों के छिन्न भिन्न न होने के लिये। तथा यहां 'विज्ञानमय' शब्द का अर्थ बुद्धिमय न लेकर विशिष्टज्ञानमय अर्थात् सर्वज्ञ लेना चहिए ।

पुनः—

स्वशब्दोन्मानाभ्याम् ।। (वेदा० २।१।३४)

स्वशब्द अर्थात् साक्षात् अणुशब्द से उन्मान अर्थात् उद्धृत अल्प मान तुलामान से भी सिद्ध है "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" (मुण्ड० ३।१।१६) यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है जिसमें प्राण पांच रूपों में संविष्ट हुआ हुआ है। "विशोका वा ज्योतिष्मती"

(योग० १।३६) पर व्यासभाष्य में भी कहा है "तमणुमात्र-मात्मानमनुविद्याहमस्मीत्येवं सम्प्रजानीते" हृदय में उस अणु-मात्र आत्मा को अनुभव कर 'हूं' ऐसा प्रतीत करता है तथा उन्मान "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भाग जीवः स विज्ञेयः" (श्वेता० ५।८) बाल के अग्र अर्थात् नोक शतभाग पुनः उसके भी शतभाग कल्पित किये जितने परिमाण वाला जीव है ॥

वेद में जीवात्मा को अणु कहा है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।....
इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
(अथर्व० १०।८।२५,२६)

यह जीवात्मा बाल से भी अत्यन्त अणु है—यह जीवात्मा देवता पवित्र अजर अमर इस मरणधर्मा शरीररूप घर रहती है ।

वेदान्तदर्शन में भी कहा है—

शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ॥ (वेदा० १।२।२०)

इस सूत्र से पूर्व सूत्र "न स्मार्त...." (वेदान्त० १।२।१६ से न अन्तर्यामी की अनुवृत्ति आती है। शारीर अर्थात् जी अन्तर्यामी नहीं है क्योंकि दोनों काण्वशाखी और माध्यन्दिनशा जन इस अन्तर्यामी को भेद से अर्थात् शारीर—जीव से भि पढते हैं। जैसे "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः...विज्ञान मन्तरो यमयति" (बृह० ३।७।२२) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनो ऽन्तरः...आत्मानमन्तरो यमयति" (शत० १४।३।७।३०) यह इन दोनों स्थलों में "यः [illegible]" आदि सब पा

होता हुआ भी समानार्थक है अन्य सब समान होने से। एवं दोनों वचनों में अभीष्ट है आत्मा से भिन्न अन्तर्यामी को पढ़ना अतः अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न जीवात्मा है और जीवात्मा भी पृथक् सत्ता है॥

न्यायदर्शन में कहा है—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ (न्याय० ३।१।१)

दर्शन और स्पर्शन व्यवहारों द्वारा एकार्थ का—एकाधार का ग्रहण होने से—दोनों दर्शन और स्पर्शन एक के आश्रय होने से—दोनों की अनुभूति एक के अन्दर होने से कि मैं ही देखता हूं मैं ही छूता हूं, यह "मैं" दोनों दर्शन स्पर्शन में 'अहं सत्ता—आत्मा' का साधक है॥

तथा—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ (न्याय० ३।१।१२)

इन्द्रियान्तर विकार से भी आत्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाली एक भिन्न सत्ता है। नेत्र इन्द्रिय से अम्ल वस्तु को देखने से जिह्वा इन्द्रिय में जलस्राव होने से भी दोनो इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा दोनों से सङ्गत होनेवाला सिद्ध होता है, जो कि पूर्वदृष्ट रसानुभूति का पश्चात् स्मरण करता है॥

अपितु—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्राप्तेः ॥
(न्याय० ३।१।१९)

नव जात शिशु को हर्ष भय और शोक की प्राप्ति-अनुभूति नवजीवन में उनके हेतुओं के विना जो होती है वह पूर्वजन्म में अभ्यस्त विषयों की स्मृति के कारणभूत संस्कारों से होती

है। संस्कार से स्मृति पुनः स्मृति से हर्ष भय और शोक होता है, क्योंकि वर्तमान नवशैशवकाल में तो अभी कुछ किया ही नहीं। हम देखते हैं नव जात शिशु सो रहा है वह सोता हुआ कभी हंसता (स्मित होता—मुस्कराता) है, कभी रोता (सुबकता) है, कभी भय मानता (उचक जाता काम्पता) है; यह इस प्रकार हंसने आदि के स्वप्न कैसे उसे आते हैं जबकि अभी नवजीवन में संसार का कुछ देखा ही नहीं। तब यही निश्चय है कि पूर्व-जन्म के संस्कारवश उन उन विषयों की स्मृति से वैसे वैसे स्वप्न आते हैं। संस्कार से जागते हुए स्मृति और सोते हुए स्वप्न आया करते हैं यह दर्शनान्तर में कहा ही है "आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः, तथा स्वप्नः" (वैशे० ८।२।६,७) आत्मा और मन के संयोगविशेष और संस्कार से स्मृति तथा स्वप्न हुआ करते हैं।

वह यह आत्मा—

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ (सांख्य० १।१३९)

शरीर इन्द्रियों और अन्तःकरण से भिन्न आत्मा है।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ (सांख्य ६।२)

वह यह आत्मा देह में रहता हुआ देह, इन्द्रियां और अन्तः करण से कार्य लेता हुआ तथा उपभोग करता हुआ भी स्वरूपतः इन देह आदि से भिन्न है क्योंकि वैचित्र्य अर्थात् देह आदि से विलक्षणधर्म वाला होनेके कारण। देह बाल्य यौवन जरा अवस्थाओं में परिणत होता रहता है, इन्द्रियां विपत्ति को ह्रास और नाश को प्राप्त हुआ करती हैं परन्तु आत्मा इन सब अवस्थाओंमें 'अहम्-मैं' अनुभूति में वैसा ही रहता है। मृत देह

होजानेपर स्पर्श रूप आदि देह के धर्म तो बने रहते हैं किन्तु उनसे भिन्न स्फुर्ति कान्ति भाषण देखना समझना आदि विलक्षण धर्म आत्माके नहीं मिलते जो कि जीवित देहमें ही होते हैं ॥

स्फुर्ति भाषण आदि चैतन्य धर्म आत्मा के ही हैं अत एव—

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥(सांख्य० ३।२०)

देह में जो चैतन्य है वह देहका स्वाभाविक धर्म नहीं-देह का अपना धर्म नहीं-देह जिन पृथिवी आदि भूतों से बना है उन से आया हुआ नहीं क्योंकि प्रत्येक पृथिवी आदि भूत में चैतन्य अलग-अलग उपलब्ध नहीं होता। अतः चैतन्य धर्म आत्मा का ही है जो कि देह आदि से पृथक चेतन सत्ता है ॥

तथा—

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात्परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥

(वैशे० ३।२।१४)

'अहम्—मैं' यह अनुभव अन्तरात्मा—स्वात्मा में अनुभूत होने से अन्यत्र न होने से देह आदिसे भिन्न आत्माके द्वारा ही प्रत्यक्ष होने वाला है।

अपि च—

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥

(वैशै० २।१।२)

इन्द्रियों की करणरूप में और गन्ध आदि अर्थों की विषय-रूप में प्रसिद्धि-सत्तारूप में होना निश्चय इन इन्द्रियों और अर्थों से भिन्न सत्ता अर्थात् आत्मा का हेतु है-साधक है जो कि इन इन्द्रियों से उन अर्थों का ग्रहणकर्ता है।

यह देह आदि से अतिरिक्त आत्मा प्रत्येक शरीर में अलग-

अलग है—

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥
(वैशे० ३।१।२०)

जैसे सुख और सुखसाधनों के प्रति प्रवृत्ति तथा दुःख और दुःखकारणों से निवृत्ति अपने आत्मामें दृष्ट है-मिलती है वैसे ही दूसरे शरीर में भी प्रवृत्ति निवृत्ति के मिलने से दूसरे के आत्मा का लिङ्ग है दूसरे के शरीरमें आत्मा है इस बात का साधक है। जैसे मैं सुख एवं सुखसाधनों की ओर प्रवृत होता हूँ और दुःख एवं दुःखकारणों से निवृत्त होता हूँ-दूर रहता हूँ वैसे ही दूसरा भी सुख एवं सुख साधनों की ओर प्रवृत्त होता है और दुःख एवं दुःखकारणों से निवृत्त होता है-दूर हटता है तो उस दूसरे में भी मेरे जैसा आत्मा है यह निश्चय है-और होना चाहिए। तब यदि मुझे किसी अभीष्ट वस्तु से सुख होता है तो दूसरे को भी इससे सुख होगा, दूसरे को उसके उपयोग का अवसर देना कर्तव्य है धर्म है विपरीत अकर्तव्य है अधर्म है, तथा जैसे मुझे किसी अनभीष्ट छुरे आदि लग जाने से दुःख होता है वैसे दूसरे को भी उससे दुःख समझना कर्तव्य है धर्म है विपरीत अकर्तव्य है अधर्म है। अत एव कहा है" आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" (चाणक्यनीति श्लोक ३, हितोपदेश मित्रलाभ १४) जो अपने जैसा दूसरे प्राणियों में आत्मा देखता है वह बुद्धिमान है समझवाला है ॥

विश्व का रचयिता धर्ता संहर्ता परमात्मा तो एक है "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (ऋ० १०।८१।३) आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त सृष्टि का उत्पादक देव एक है। परन्तु जीवात्मा असंख्य हैं प्रति शरीर अलग अलग हैं कहा भी है—

व्यवस्थातो नाना ॥ (वैशे० ३।२।२०)

व्यवस्था से जीवात्मा प्रति शरीर भिन्न भिन्न हैं।

सांख्य दर्शन में भी—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ (सांख्य० १।१४९)

जन्म, मरण, जीवन तथा बाल्य, यौवन, जरा आदि की व्यवस्था से अर्थात् कोई जन्मता है कोई मरता है कोई जीता है तथा कोई बालक कोई युवा कोई वृद्ध है इस प्रकार व्यवस्था से पुरुष अर्थात् शरीरवर्ती आत्माएं बहुत हैं-असंख्य हैं।

तथा—

शास्त्रार्थत्वात् ॥ (वैशे० ३।२।२१)

शास्त्र की सार्थकता से भी-शास्त्र में विधि और निषेध के शासन तथा उच्च और नीच फल के प्रदर्शन से भी जीवात्माएं बहुत हैं असंख्य हैं क्योंकि एक के लिये परस्पर विरोधी विधि-निषेधों का प्रतिपादन और फलप्रदर्शन नहीं बन सकता। अपितु शास्त्र में साक्षात् अनेक जीवात्माओं का वर्णन भी है "ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति" (बृह० ४।४।१४) जो उस ब्रह्म को जानते हैं वे अमृत-मुक्त-होजाते हैं, न जानने वाले दुःख को ही प्राप्त होते हैं॥

जीवात्माएं अनेक हैं असंख्य हैं यह निर्देश वेद में भी है—

ये समानाः समनसस्ते जीवा जीवेषु मामकाः"

(यजु० १६।४६)

जो समान एक मनवाले जीवों में जीव हैं "य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" (ऋ० १।१६४।३६) जो उस परमात्मा को जानते हैं वे उस परमात्मा में समागम प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शास्त्र

में तथा वेद में भी बहुवचन निर्देशसे प्रति शरीर आत्माएं अलग अलग हैं-बहुत हैं।

आत्मा वस्तुतः—

व्यावृत्तोभयरूपः ॥ (सांख्य १।१६०)

मुक्तत्व और बद्धत्व दोनों रूपों से आत्मा पृथक् है, क्योंकि अविवेक से बद्ध होता है और अविवेक दूर होजाने से-विवेक से मुक्त होता है ॥

स्पष्ट रूप से भी कहा है—

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ (सांख्य० ३।७१)

आत्माका बन्ध पुनः उस से मोक्ष ये दोनों स्वरूपतः नहीं हैं, क्योंकि अविवेक के विना बन्ध पुनः उस से छूटना रूप मोक्ष नहीं बन सकता। अविवेक से बन्धता है और अविवेक दूर होजाने से मुक्त होता है ॥

जीवात्मा स्वरूप से आनन्द गुणवाला नहीं है—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ (वेदा० १।१।१८)

कामना-सुखप्राप्ति की इच्छा रखने वाला होने से भी जीवात्मा आनन्दगुणवाला या आनन्दस्वरूप नहीं है, इस में अनुमान भी करने का अवसर नहीं जबकि श्रुति में कामनाओं की पूर्ति आनन्दस्वरूप आत्मा के सङ्ग से होना कहा है "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै०उ० २।१) वह सब कामनाओं को प्राप्त करता है सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ। वेद में भी कहा है "उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥" (ऋ० ७।८६।२) हाँ अपने देह से संवाद करता हूं कि मैं कब

वरणीय तथा वरनेवाले परमात्मा के अन्दर हो जाऊं, मेरी किस भेंट को वह सस्वागत स्वीकार कर सके और मैं कब उस सुखस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकूं। इस प्रकार सुख की कामना जीवात्मा में होने से वह सुखस्वरूप नहीं है॥

सांख्य दर्शन में भी कहा है—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्॥ (सांख्य० ५।६६)

जीवात्मा आनन्दरूप चिद्रूप नहीं किन्तु चिद्रूप अर्थात् चेतनस्वरूप है। क्योंकि दोनों जीवात्मा और परमात्मा का भेद से वर्णन इस विषय में आता है "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तै० उ० २।७) आनन्द जीवात्मा में नहीं है चेतनत्व ही है यह इससे स्पष्ट है, परमात्मा आनन्दरूप है उसे प्राप्त कर जीवात्मा आनन्दी आनन्दवान् हो जाता है, आनन्द को अनुभव करता है॥

जीवात्मा सुखस्वरूप न होता हुआ सुख की कामना करता है परमात्मा में कामना नहीं है वह आनन्दस्वरूप है यह भी वेद में कहा है "अकामो धीरः···रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः" (अथर्व० १०।८।४४) परमात्मा कामनारहित है किन्तु रस से आनन्द से पूर्ण है किसी प्रकार भी आनन्द से अपूर्ण नहीं है किन्तु आनन्दस्वरूप है॥

तथा—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥ (वेदा० १।१।१९)

इस परमात्मा में इस जीवात्मा का योग अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध का उपदेश भी श्रुति देती है "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभये प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति" (तै० उ० २।७) जब यह जीवात्मा इस अदृश्य

अशरीर अकथनीय अनेकदेशी—विभु अभय परमात्मा में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है तो अभय हो जाता है। वेद में भी जीवात्मा का योग परमात्मा में होना दर्शाया है "उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।" (ऋ० ७।८६।२) मैं कब उस वरणीय तथा वरनेवाले परमात्मा के अन्दर विराजमान होजाऊं। तथा "परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि-संविवेश॥" (यजु० ३२।११) समस्त वस्तुओं को व्याप्त करके, वस्तुओं के आश्रयरूप लोकों को व्याप्त होके, लोकों के भ्रमणस्थान दिशा उपदिशाओं को व्याप्त होकर तथा ऋत अर्थात् सत्य—सत् पदार्थों में वर्तमान मूल वस्तु की एवं सत्यज्ञान की प्रथमोत्पन्न स्थिति प्रथम प्रादुर्भूत स्थिति को स्वाश्रय में रख कर वर्तमान हुए परमात्मा को स्वात्मा से सम्प्राप्त हो—उस में निवेश प्रवेश करे॥

जीवात्मा के एकदेशी—अणु होने से उस में सुषुप्ति और उत्क्रान्ति—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन॥ (वेदा० १।३।४२)

सुषुप्ति—गाढनिद्रा और उत्क्रान्ति—वर्तमान शरीर से निकल जाना भी जीवात्मा के धर्म हैं अतः यह परमात्मा से भिन्न कहा गया है। "यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ... अयं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" (बृह० ४।३।१९—२१) जिस अवस्था में सुप्त मनुष्य न कुछ चाहता न कोई स्वप्न देखता उस सुषुप्तावस्था में परमात्मा से सङ्गत हुआ न बाह्य का अनुभव करता है न अन्दर का। तथा "अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ

उत्सर्जन् याति" (बृह० ४।३।३५) यह जीवात्मा परमात्मा के अधीन हुआ शरीर को छोड़ जाता है।

तथा—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ (वेदा० १।२।३)

वेदान्त दर्शन में "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्" (वेदा०१।२।१) सर्वत्र उपास्यरूप में परमात्मा का ही उपदेश है या सर्वत्र प्रसिद्ध परमात्मा की ही उपासना का उपदेश है। इस कथन को प्रारम्भ कर "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च" (२) सूत्र में बतलाया कि अभीष्ट गुण"...सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा...ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः" (छान्दो०-३।१४।१—३) सत्यसङ्कल्प आकाशवत् विभु सर्वकर्मों में शक्तिमान् पृथिवी से बड़ा अन्तरिक्ष से बड़ा द्युलोक से बड़ा इन सब लोकों से बड़ा इत्यादिगुण परमात्मा में हो सकते हैं यह कहने के अनन्तर इस प्रस्तुत सूत्र में कहा जा रहा है कि उक्त सत्यसङ्कल्प आकाश के समान विभु द्युलोक से महान् आदि गुण शारीर अर्थात् जीवात्मा में नहीं बन सकने से वह उपास्य नहीं, यहां सूत्रकार महर्षि व्यास जीवात्मा की सत्ता का परमात्मा से पृथक् प्रतिपादन कर रहे हैं उसे परमात्मा से पृथक् मानकर ही। अतः जीवात्मा एक पृथक् सत्ता है जो एकदेशी है।

जीवात्मा न केवल संसारदशा में ही परमात्मा से भिन्न सत्ता है अपितु मुक्ति में भी परमात्मा में लीन नहीं होता है किन्तु स्वरूपतः पृथक् वर्तमान रहता है॥

क्योंकि—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

(वेदा० ४।४।१७)

मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य जगत् की उत्पत्ति आदि करने से रहित होता है—मुक्त जगत् की उत्पत्ति आदि नहीं कर सकता अर्थात् ब्रह्म में लीन नहीं होता है अत एव व्यास महर्षि ने उसे मुक्त हो जाने पर भी जगत् की उत्पत्ति के अयोग्य ठहराया, क्योंकि जगद्रचनादि प्रकरण में ईश्वर ही प्रकृत है "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" (तै० उ० ३।१) जिस से ये भूत उत्पन्न होते हैं जिसके सहारे जीते हैं जिसके अन्दर प्रलय में प्रवेश करते हैं उसे जानो वह ब्रह्म है। तथा जगद्रचना आदि के प्रकरण में मुक्तों का अथवा मुक्तों के प्रकरण में जगद्रचना आदि का सन्निधान सहभाव या समीपता नहीं है ॥

वेदान्त दर्शन में स्थान स्थान पर जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् ही कहा है—

स्थित्यदनाभ्याम् ।। (वेदा० १।३।७)

द्युलोक भूलोक आदि समस्त जगत् में परमात्मा की स्थिति और जीवात्मा का अदन अर्थात् भोग का वर्णन श्रुति में होने से जीवात्मा जगत् का आयतन—आश्रय नहीं है, अत एव वह परमात्मा से भिन्न सत्ता है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० १।१६४।२०) दो सुपर्ण जीवात्मा और परमात्मा समानधर्मा चेतन एक ही जगद्रूप वृक्ष पर हैं इन दोनों में एक जीवात्मा स्वाद से फल खाता है दूसरा

कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् ॥ (वेदा० २।३।३३)

आत्मा कर्ता है—कर्मकर्ता है शास्त्र की सार्थकता से। शास्त्र आत्मा को कर्ता मानकर ही उसके लिये विधि निषेध का विधान करता है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" (यजु० ४०।२) कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। तथा स्मृति में भी "मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः। जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः" (मनु०-४।१४५) अहिंसा आदि मङ्गलाचरणों से युक्त जितेन्द्रिय संयतमनवाला आत्मा होता हुआ जप करे विना उपेक्षा के हवन भी करे। "पशून पाहि" (यजु० १।१) पशुओं की रक्षा कर "गां मा हिंसीः" (यजु० १३।४३) गौ की हिंसा न कर "अक्षैर्मा दिव्यः" (ऋ० १०।३४।१३) पाशों से मत खेल "ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छान्दो० १।१।१) ओ३म् उद्गीथ की उपासना करे "एष हि स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्रश्नो० ४।६) यह जीवात्मा ही स्प्रष्टा श्रोता मननकर्ता बोधकरनेवाला और कर्मकर्ता है ॥

सांख्यदर्शन में भी कहा है—

अविवेकाद्वा तत्सिद्धिः कर्तुः फलावगमः (सांख्य० १।१०६)

अविवेक से आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध है ही, जब तक विवेक न हो तब तक आत्मा कर्ता है ही—इसे कर्म करने पड़ेगें ही इस प्रकार कर्मकर्ता होने से फल का भोग भी होना है एवं जीवात्मा कर्ता और भोक्ता है ॥

तथा—

पुरुष में भोक्तृभाव–भोक्तृत्व होने के कारण वह शरीर आदि से भिन्न है। इस कथन में जीवात्मा का भोक्ता होना सिद्ध है। तथा "चिदवसानो भोगः" (सांख्य० १।१०४) में भी कहा है कि भोग चेतन के लिये है॥

वेदान्तदर्शन में भी—

प्राणवता च शब्दात् ॥ (वेदा० २।४।१५)

प्राणस्वामी-प्राण अर्थात् इन्द्रियां भोग के साधन हैं। इन्द्रिय-स्वामी जीवात्मा के सम्बन्ध से उसी के लिये भोग साधन हैं। शब्दप्रमाण भी स्पष्ट है "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" (छान्दो० ८।१२।४। जो अनुभव करता है कि मैं सूंघता हूँ वह आत्मा है इत्यादि॥

वेद में भी कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"

(ऋ० १।१६४।२०)

यहां जीवात्मा और परमात्मा में एक जीवात्मा को फल का भोक्ता कहा है। तथा—

त्यक्तेन भुञ्जीथाः।

(यजु० ४० ।१)

जीवात्मा को त्याग से भोग का विधान करने से भी स्पष्ट है।

इस प्रकार प्रस्तुत दार्शनिक क्षेत्र में जीवात्मा का स्वरूप निम्न कहा गया है—

१—आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार।

२—उसका नित्य होना।

३—परमात्मा से भिन्न सत्ता।

४—देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण से पृथक् चेतन सत्ता।

५—सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण से रहित।

६—अणुपरिमाण तथा अल्पज्ञ॥

७—चेतन एवं सच्चिद्रूप।

८—स्वयं आनन्दरूप न होकर परमात्मा के सङ्ग से सुख प्राप्त करना एवं मोक्ष में विशेषतः आनन्दवान् बनजाना।

९—इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान इन छः आन्तरिक गुणों से सदा युक्त होना तथा प्राणापाननिमेषादि चैष्टिक गुणों से भी चेष्टाकाल में लक्षित होना।

१०-स्वयं चेतनस्वरूप होते हुए भी अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा विषयानुभूति करना।

११-कर्मकर्ता और कर्मफल का भोक्ता।

१२-पुनर्जन्म या पुनः पुनः जन्म को प्राप्त करना।

१३-उपासनाद्वारा परमात्मा का सत्सङ्ग करना और अपने अन्दर उसके गुणों को अधिकांश में धारण करना।

१४-शिवसङ्कल्पों और योगाभ्यास से मोक्ष प्राप्त करना।

१५-मोक्ष में महान् ऐश्वर्य को प्राप्त कर परमात्मा के आधार पर स्वरूप से वर्तमान रहना परन्तु उस प्राप्त ऐश्वर्य से जगत् की उत्पत्ति आदि करने में अयोग्य होना।

१६-जीवात्मा का नितान्त बद्ध या नितान्त मुक्त न होना स्वरूपतः न बद्ध न मुक्त अपितु अविवेक से बद्ध और अविवेकनाश या विवेक से मुक्त होना।

१७–असंख्य जीवात्माएं।

१८–अपने जैसी प्रवृत्ति निवृत्ति द्वारा दूसरे में अपने जैसा जीवात्मा जानना और अपने जैसा उसका सुख दुःख मानना।

प्रकृति

(जगत् का उपादान कारण)

परमात्मा और जीवात्मा दो चेतन सत्ताएं हुई, इन में परमात्मा तो इस जगत् का रचयिता है और जीवात्मा इस का भोक्ता है। ये दोनों तो चेतन हुए। दोनों प्रत्यक्ष हैं यह कह आए हैं, परन्तु जगत् जड़ है—कार्य है—बना हुआ है, यह जड़ जगत् किसी जड़ वस्तु का परिणाम है जोकि इस का मूल है और वह परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों चेतन सत्ताओं से तीसरी भिन्न सत्ता है ऐसा समस्त दर्शनों का सिद्धान्त है, जड़ जगत् का उपादान कारण जड़ है यह भी सभी दर्शनकार अपने अपने क्षेत्र में अपने अपने ढंग से अपना अपना नाम और रूप देते हैं। जो उपादान सर्वोपरि है उस का नाम प्रकृति है उसे ही अव्यक्त और प्रधान नाम भी दिया जाता है, यह आनुमानिक वस्तु है। वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि वह प्रकृति को जगत् का उपादान नहीं मानता या प्रकृति को नहीं मानता, परन्तु ऐसा नहीं है, इस पर निम्न विवेचन देखें—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ (वेदा० १।४।३)

इस से पूर्व "सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्" (१।४।२) सूत्र में अव्यक्त प्रधान सूक्ष्म है यह कहा हुआ है। प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है

कि अव्यक्त प्रकृतिनामक वस्तु परमात्मा के अधीन होने से जगत् की उत्पत्ति में सार्थक है–आवश्यक है। इस सूत्र पर शाङ्कर-भाष्य में भी प्रकृति की सत्ता स्वीकार की है "परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा, सा चावश्यमभ्युपगन्तव्या, अर्थवती हि सा, नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्धयति...एतदव्यक्तं क्वचिन्मायेति सूचितम्—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् जगत् से पूर्व अवस्था (अव्यक्त सत्ता) तो पमेश्वर के अधीन हम भी मानते हैं वह स्वतन्त्र नहीं, वह अवश्य मानने योग्य है वह अर्थसाधिका है विना उसके परमेश्वर का सृष्टिकर्तृत्व–सृष्टि बनाना नहीं हो सकता, यह अव्यक्त वस्तु कहीं माया नाम से सूचित की गई है–माया प्रकृति और मायी—माया अर्थात् प्रकृति का स्वामी परमेश्वर को जानना चाहिए। यहां शाङ्करभाष्य में भी प्रकृति की सत्ता को स्वीकार किया है ॥

पुनः इसी पाद में सूत्रकार महर्षि व्यास कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ (वेदा० १।४।२३)

जगत् की उत्पत्ति में परमात्मा के साथ पूर्वोक्त उसके अधीन प्रकृति भी कारण है, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की अनुकूलता से। परमात्मा निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है इस में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों हैं। प्रतिज्ञा है "य एष सुप्तेषु जगर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः (कठो० २।२।८) इच्छानुसार निर्माण करता हुआ सोते हुओं में जागता है। इस प्रतिज्ञा में जागने वाले परमात्मा से अतिरिक्त सोने वालों की सत्ता भी साथ स्पष्ट है, सो प्रकृति और जीवात्माएं सोने वाले हैं। दृष्टान्त–"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्त-

रात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च” (कठो० २।२।६) अग्नि जैसे विश्व में प्रविष्ट हो वस्तु वस्तु के प्रति प्रकटता का कारण है वैसे ही एक सर्वभूतान्तर आत्मा जगदीश वस्तु वस्तु के प्रति प्रकटता का कारण उन में और उन से बाहिर भी है। यहां दृष्टान्त में परमात्मा से भिन्न सत्ता भी स्पष्ट है जिस के बाहिर भी परमात्मा है ॥

तथा—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ (वेदा० १।४।२५)

जगत् की उत्पत्ति में कारणरूप से परमात्मा और प्रकृति दोनों का श्रुतिमें पाठ होने से भी दोनों ही कारण हैं। “तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी” (तै० उ० २।१) उस अव्यक्त से तथा इस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ पुनः वायु आदि। यहां दोनों का कथन है। तथा दोनों का पृथक् पृथक् वचनों में वर्णन–“यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशम्” (मुण्ड० ३।१।३) जब देखनेवाला चेतन जीवात्मा उस शुभ्रवर्ण वाले जगत्कर्ता ईश्वर को देखता है। यहां ईश्वर कहा, तथा “अजामेकां लोहत-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः” (श्वेता० ४।५) अजन्मा एक सत्त्व गुण रजोगुण तमोगुणावाली प्रकृति समान त्रिगुणी विविध सृष्टि करने वाली है यह यहां कहा है। वेद में भी दोनों को साथ ही कहा है “इयं विसृष्टिर्यत आबभूव····सोऽस्याध्यक्षः” (ऋ० १०।१२६।७) यह विविध सृष्टि जिस से ‘आबभूव’ प्रसूत हुई-प्रकट हुई–उत्पन्न हुई–बनी, जिस के सम्बन्ध में “तम आसीत्तमसा···आभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥” (३) में “आभ्वपिहितम्–आभु–अव्यक्त कहा है, वह परमात्मा उस

आभु अव्यक्त का अध्यक्ष है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में भी जगत् के उपादान प्रकृति का स्वीकार किया है। यह जानना चाहिए ‡।

---

‡ प्रकृति का स्वरूप सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की साम्यावस्था–समावस्था–निश्चेष्टावस्था हे " सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृते महान्" (सांख्य: १।६४) यहां प्रकृति का उतना ही वर्णन किया है जितना अध्यात्मतत्त्व के विवेचन में अभीष्ट हैं।

अन्तः करण

जीवात्मा के करण अर्थात् कार्यसाधन दो प्रकार के हैं, एक बहिष्करण दूसरे अन्तःकरण। बहिष्करण-बाहिरी साधन हस्त आदि कर्मेन्द्रियां और नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियां हैं। अन्तःकरण अन्दर वाले साधन मन बुद्धि चित्त अहङ्कार नाम से प्रसिद्ध हैं। बहिष्करण तो स्थूल हैं शरीर में छू छू कर बतलाए जा सकते हैं स्वयं भी अनायास समझे जाते हैं, परन्तु अन्तःकरण दूसरे को बतलाना तो दूर रहा किन्तु स्वयं भी समझने दुष्कर हैं शरीर कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां बाह्यजीवन के पदार्थ हैं, परन्तु अन्तःकरण और अन्तरात्मा (जीवात्मा) तथा अन्तर्यामी (परमात्मा) ये तीन अन्दर होनेसे आन्तरिक जीवन या भीतरी जीवन के पदार्थ हैं जैसे वृक्ष के मौलिक जीवन के पदार्थ होते हैं वैसेही मानव के मौलिकजीवन के पदार्थ भी हैं। वृक्ष के मौलिक जीवन के पदार्थ हैं बीज, मूल और अङ्कुर, मानव के मौलिक जीवन के पदार्थ परमात्मा, जीवात्मा और अन्तःकरण । मानव की सुख शान्ति और विकास के आधार ये ही हैं। जैसे वृक्ष के गुण विकास के आधार बीज मूल और अङ्कुर हैं। परमात्मा जीवात्मा का विषय कहा जा चुका अन्तःकरण का विषय प्रस्तुत है। बहिष्करण की अपेक्षा अन्तःकरण का जानना कठिन है क्योंकि सूक्ष्म और विद्युत की भांति तरङ्गयुक्त पदार्थ है। जैसे विद्युत् की दो तरङ्गें

होती हैं शुष्क और आर्द्र (पोजिटिव और नेगिटिव) इसी प्रकार मन आदि अन्तःकरण की भी दो दो तरङ्गे हैं। मन की सङ्कल्प और विकल्प (प्राप्ति की इच्छा और निषेध की इच्छा), बुद्धि की सन्देह और निर्णय, चित्त की भूतस्मरण और भावी स्मरण, अहङ्कार की 'अहमिदम्'—में ऐसा हूं और 'ममेदम्' यह मेरा है अर्थात् मैं और मेरा की वृत्तियां। ये तरङ्गे मन आदि अन्तः-करण की हैं। दर्शन ग्रन्थों में इन मन आदि अन्तःकरणों का निम्न वर्णन किया है—

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ (सांख्य० २।१३)

मनुष्य को शरीर में निश्चय जिसके द्वारा होता है, वह उपकरण बुद्धि कहा जाता है यह सत्त्वरूप होता है तो आत्मा को स्वरूप निश्चय कराने में यही साधन है। पुनः यह रजोगुण-युक्त होकर धर्म ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य विषयों में उपयुक्त हो जाती है और तमोगुण से युक्त हो अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य में लिप्त होजाती है॥

अभिमानोऽहङ्कारः ॥ (सांख्य० २।१६)

अहं मम—मैं मेरे अभिमान व्यवहार का साधन अहङ्कार अन्तःकरण है॥

उभयात्मकं च मनः ॥ (सांख्य० २।२७)

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय—दोनों इन्द्रिय वर्गों से युक्त उनकी प्रवृत्ति का निमित्त तथा स्वगुण सङ्कल्प विकल्प वाला मन है। "एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्" (मनु०-२।९२) इन्द्रियों के ऊपर ग्यारहवां मन जानना चाहिए तथा अपने गुण से युक्त दोनों इन्द्रियगण की प्रवृत्तिवाला भी॥

न्याय दर्शन में भी कहा है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ (न्याय० १।१।१६)

समस्त इन्द्रियों से समस्त अर्थों का एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होना मन अन्तःकरण का साधक है। यह एक ऐसी बात है जैसे एक रिक्त मञ्जूषा (बकस) के ऊपर पांच गोल छिद्र रुपये के आकारवाले हैं, उनके ऊपर चालनी से आटा चालते हैं परन्तु बकस के अन्दर देखते हैं कि एक समय में बदल बदल कर एक ही छिद्र का आटा अन्दर मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उन छिद्रों के नीचे कोई एक अन्य छिद्रवाला पट्ट (परदा) है जो चल है, ऊपर के जिस छिद्र से वह युक्त होता है उसका आटा अन्दर आने देता है दूसरे का नहीं, सो ऐसा ही मन भी है वह जिस इन्द्रियद्वार से युक्त होता है उसीका ज्ञान आत्मा तक पहुंचाता है सब का नहीं अतः आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में सर्वेन्द्रिय ज्ञान का बाधक एकेन्द्रिय ज्ञान का साधक मन है ॥

परन्तु—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ (न्याय० ३।२।६)

क्रमवृत्ति होने से—इन्द्रियों द्वारा अर्थों का सन्निकर्ष क्रमशः होने से एक एक के साथ होने से अलग अलग ज्ञान ग्रहण होता है, युगपत्—एक साथ नहीं ॥

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च सनसो लिङ्गम् ॥
(वैशे० ३।२।१)

आत्मा इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना तथा न होना मन का लक्षण है अर्थात् आत्मा और इन्द्रियों के

सम्मुख अर्थों के होने पर भी कभी किसी इन्द्रिय से किसी अर्थ का ज्ञान आत्मा को होता है और कभी नहीं होता है इस में मन कारण है, मन जिस इन्द्रिय से युक्त होता है उस इन्द्रिय के अर्थ का ज्ञान आत्मा को होता है और जिस इन्द्रिय से युक्त नहीं होता उसका ज्ञान नहीं होता। मन एक तरङ्गवान् चल करण है जिस इन्द्रियकेन्द्र पर वह चला जाता है उसका ज्ञान कराता है अन्य का नहीं ॥

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥
(न्याय० ३।२।७)

अनुभूत किए हुए बहुतरे विषयों की सर्वदा स्मृति न होना मन के विषयान्तर में व्यस्त रहने से है ॥

वैसे यह मन—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ (योग० ४।२३)

द्रष्टा—आत्मा और दृश्य—बाह्य वस्तु से उपयुक्त-सम्बद्ध सम्बन्ध को प्राप्त हुआ चित्त सर्वार्थ है—सब दृश्यों को देखने का साधन है, द्रष्टा और दृश्य के मध्य में यह दर्शन है-दृश्य दिखलाने का दर्पण है। कांच दर्पण पर दृश्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु चित्त दर्पण दृश्य का चित्र अपने अन्दर खींच लेता है जो अवसर अवसर पर द्रष्टा आत्मा को पुनः पुनः दिखाता रहता है ॥

वह यह मन—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ (न्याय७ ३।२।६९)

यथोक्त हेतु "ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः" (न्याय० ३।२।५८) में कहे ज्ञानायौगपद्य—ज्ञान के एक साथ उत्पन्न न होने से मन

सूक्ष्म और विद्युत् के समान तरङ्गवाला होता हुआ भी जैसे एक है एवं अणुपरिमाणवाला भी है ॥

वैशेषिक दर्शन में भी कहा है—

तदभावादणु मनः ॥ (वैशे० ७।१।२३)

विभुत्व के अभाव से मन अणु है—अणुपरिमाण-वाला है ॥

सांख्य दर्शन में भी कहा है—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा
वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् (सांख्य० ५।६९)

मन का विभुत्व नहीं—मन अणु है, करण होने से कुठार आदि के समान तथा इन्द्रिय होने से नेत्र आदि के समान ॥

यद्यपि मन करण है और एकादश संख्याक-ग्यारहवी (संख्यावाली) इन्द्रिय भी है परन्तु प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु आत्मा की भांति अनैन्द्रियिक—अप्रत्यक्ष है—इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने-वाला है जैसा कि वैशेषिक में कहा है—

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ (वैशे० ८।१।२)

वैशेषिक में कहे नौ द्रव्यों में आत्मा और मन अप्रत्यक्ष हैं—इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते हैं ॥

वेद में उक्त अन्तःकरण चतुष्टय के सम्बन्ध में चारों का वर्णन भिन्न भिन्न नामों से आता है—

मनसे चेतसे धिय आकूतये······॥

(अथर्व० ६।४१।१)

मन, चेतस्-चित्त, धी-बुद्धि, आकूति-अहङ्कृति अहङ्कार ये नाम हैं। परन्तु सबका सामान्य मन नाम देकर चारों के गुणकर्मों

का निरूपण भी शिवसङ्कल्प के छः मन्त्रों में किया है। दो मन्त्रों में-द्वितीय और षष्ठ मन्त्रों में तो अन्तःकरण मात्र का मन नाम से कार्य बतलाया है जो निम्न हैं--

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।२)

जो प्रजाओं-प्राणियों का अन्तःकरण रूप मन अपूर्व ग्राह्य वस्तु है जिसके द्वारा मनीषी-विचारशील विद्या निःष्णात विद्वान् जन यज्ञ अर्थात् यजनीय सङ्गमनीय ज्ञानक्षेत्र में कर्मों को तथा धीर-दृढ कर्मठ वीर जन विदथों-संघर्ष क्षेत्रों में अपस्-व्यापक कर्मों-पारिश्रमिक कर्मों को करते हैं वह मेरा अन्तःकरण रूप मन शिवसंङ्कल्पवाला हो॥

तथा—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।६)

जो मन हृदय में प्रतिष्ठित पूर्ण बलवान् अत्यन्त वेगवान् हुआ उत्तम सारथिसा लगामोंसे बलवान् घोड़ों की भांति मनुष्यों को जहां तहां निरन्तर ले जाता रहता है वह अन्तःकरण चतुष्टय-रूप मेरा मन शिवसङ्कल्पवाला हो-बने॥

अब अलग अलग के सम्बन्ध में मन नाम से ही चारों के गुण कर्मों का वर्णन देखे।

मन के सम्बन्ध में—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" ॥

(यजु० ३४।१)

जागते हुए का जो मन दैव-देवों-इन्द्रियों के विषय को दूर तक उत्क्रान्त हो जाता है—चला जाता है वही मन सोते हुए का भी वैसे ही दैव-विषय संस्कार—वासनामय विषय स्वरूप को चला जाता है ऐसा वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति मेरा मन कल्याणकरइच्छावाला हो ॥

बुद्धि के विषय में—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजु० ३४।३)

जो प्रज्ञान-प्रज्ञा-बुद्धि तथा चेतस्-चेतावनी का साधन और धृति-धारणा का उपकरण प्रजाओं में—मनुष्यों में भीतरी अमृत ज्योति है जिसके विना कोई कर्म नहीं किया जा सकता वह बुद्धि रूप मेरा मन सत्य निश्चय वाला हो ॥

चित्त के सम्बन्ध में—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस स्थिर धर्मवाले चित्तरूप मनसे यह सब भूत वर्तमान और भविष्यत् वृत्त या ज्ञान पकड़ा हुआ या अधिकृत किया हुआ है तथा जिस से सातहोतावाला यज्ञ—पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन तथा बुद्धि के विषयों का स्मृति यज्ञ ताना जाता है रचा जाता है वह मेरा चित्तरूप मन पुण्य स्मृतिवाला हो ॥

अहङ्कार के सम्बन्ध में—

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(यजु० ३४।५)

जिसमें ऋचाएं-ऋग्वेद के मन्त्रों का ज्ञान या स्तुति जिस में यजुर्वेद के मन्त्रोंका आचरण या प्रार्थना और सामवेद के मन्त्रों का सेवन या उपासना रथ की नाभि में अराओं की भांति प्रतिष्ठित हैं और जिसमें प्रजाओं-समस्त स्वसम्बन्धि-प्राणियों का चित्त जुड़ा हुआ है ऐसा वह अहङ्कार रूप मेरा मन सात्त्विक ममत्व वाला हो॥

इस प्रकरण में मन के सम्बन्ध में निम्न विचार आए हैं—

१—अणु परिमाण वाला।

२—अप्रत्यक्ष।

३—सब विषयों में चलने वाला।

४—एक समय में एक विषय का ज्ञान कराने का उपकरण।

स्मृति, स्वप्न, सङ्कल्प

स्मृति—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥

(वैशे० ६।२।६)

आत्मा और मन के संयोगविशेष अर्थात् स्मरणार्थ या स्मरणोन्मुख इच्छापूर्वक संयोग से तथा संस्कार—पूर्व दृष्ट वस्तु-विषयक अन्तर्निहित ज्ञानावभास से स्मृति होती है। संस्कार मन में रहता है उसका भूतकाल से सम्बन्ध है वह वर्तमान में उस पूर्व दृष्ट वस्तु के किसी अवयव, धर्म, लिङ्ग, साधन, साध्य, स्व, स्वामी, वृत्त या आचरण को देख कर अथवा सुनकर उस पूर्व दृष्ट—अनुभूत का सम्मुख आ जाना या उसके समस्त स्वरूप, गुण, धर्म, क्रिया आदि का मन के सम्मुख चित्र खिंच जाना स्मृति है, जो कि जागृतावस्था में होती है।

योग दर्शन में भी यही कहा है—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ (योग० १।११)

मोष-चुरजाना दूसरे के द्वारा, प्रमोष—गुमजाना अपने द्वारा (बाह्यदृष्टिसे), सम्प्रमोष--भूलजाना मस्तिष्क में उपस्थित होते हुए भी ध्यान में न आना (आन्तरिक दृष्टि से), असम्प्रमोष-ध्यान

में आ जाना, मन के सम्मुख आ खड़ा होना स्मृति है। स्मृति भी मानव को जीवनयात्रा में आगे बढ़ने के लिये आवश्यक वस्तु है। पूर्व शिक्षण की स्मृति विद्यार्थी को एक दिन अन्तिम कक्षा में पहुंजाती है, कला विज्ञान में अग्रसर करती और मार्ग पर ले जाती है।

स्वप्न—

तथा स्वप्नः ॥ (वैशे० ६।२।७)

उसी प्रकार अर्थात् आत्मा और मन के संयोगविशेष और संस्कार से स्वप्न-सोते हुए दृश्य दर्शन होता है। भेद केवल इतना है कि जो जागते हुए आत्मा के अधिष्ठातृत्व से पूर्व दृष्ट का मानस दृश्य दर्शन होता है उसे स्मृति कहते हैं और जो सोते हुए मन के चल धर्म से पूर्व दृष्ट का दृश्य दर्शन होता है वह स्वप्न कहलाता है, तथा जागृतावस्था में होने से स्मृति का विषय वास्तविक होता है-दृष्टानुरूप होता है और शयनावस्था में होने से स्वप्न का विषय अवास्तविक होता है दृष्ट में हेर फेर को लिये हुए होता है कल्पित होता है। स्वप्न भी सुखरूप दुःखरूप होने से पूर्व स्वकृत कर्मका अनैच्छिक फल ही है॥

सङ्कल्प—

संस्कार और सङ्कल्प मन में रहते हैं, संस्कार का तो भूत के साथ सम्बन्ध है जैसा अभी बतला आए हैं परन्तु सङ्कल्प का भविष्य के साथ सम्बन्ध है। भविष्य में जो किया जाना है उसका मन में सङ्कल्प आता है, जैसा कि कहा है—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥

(न्याय० ४।२।२)

रूपादि—गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द सङ्कल्पकृत—इच्छाकृत इच्छाप्रयुक्त होते हैं—कमनीय हो जाते हैं तो ये विषय बन जाते हैं पुनः वे रागद्वेषमोहरूप दोषों को उत्पन्न करते हैं ॥

संस्कार जब परिणाम के अभिमुख होता है तो वह प्रारब्ध कहलाता है और सङ्कल्प के परिणाम को पुरुषार्थ कहते हैं। जैसे प्रारब्ध से पुरुषार्थ बलवान् है एवं संस्कार से सङ्कल्प बलवान् है, अत एव वेद में सङ्कल्प को अच्छा बनाने का आदेश है "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४।१—६) मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो। जैसे ही प्रारब्ध के भरोसे बैठे रहना अच्छा नहीं अपितु पुरुषार्थ करना ही कर्तव्य है एवं संस्कार को रोते रहना ठीक नहीं किन्तु सङ्कल्प श्रेष्ठ बनाना कर्तव्य है। भूतकालिक वस्तु में वृद्धि नहीं हुआ करती है किन्तु शनैः शनैः ह्रास ही हुआ करता है कितना भी पक्का चित्र खींचा हो उसे क्रमशः हलका या फीका होकर अन्त में नष्ट हो जाना ही है। परन्तु सङ्कल्प में वृद्धि हुआ करती है। संस्कार तो सङ्कल्प-रूप पोधे का खाद बन जाता है; सङ्कल्प पोधा ही पनपता जाता है पुनः सङ्कल्प से राग आदि भी उत्पन्न होते हैं, कहा भी है—

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥

(न्याय० ४।१।६८)

राग आदि नष्ट नहीं होंगे ऐसा नहीं, किन्तु राग आदि भी जहां कर्म—व्यवहार से इतरेतराश्रय से उत्पन्न होते हैं साथ ही प्रधानतया सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। सङ्कल्प वस्तुओं के प्रति न हो तो राग आदि भी नहीं होते।

बस इस प्रकार राग द्वेष का प्रवर्तन ही संसार है—सृष्टि है। सांख्यदर्शन में कहा भी है—

रागविरागयो र्योगः सृष्टिः ॥ (सांख्य० २।९)

राग का प्रतिद्वन्द्वी विराग यहां द्वेष के अर्थ में है। राग द्वेष का योग राग द्वेष का व्यवहार ही सृष्टि है। एक में राग है तो दूसरे से द्वेष है, एक से द्वेष है तो दूसरे में राग। इस प्रकार राग द्वेष की भूमि सृष्टि है ॥

अविद्या, क्लेश, दुःख

अविद्या—

प्रत्येक शब्दका अपना शाब्दिक-यौगिक अर्थ होता है पुनः जब वह शब्द किसी विद्या या कला के क्षेत्र में प्रयुक्त होता है तो उसके मूल अर्थ में विशेषता आ जाती है। उन ऐसे शब्दों में ये 'अविद्या, क्लेश, दुःख' शब्द भी हैं। अविद्या का शाब्दिक अर्थ है न-विद्या = अज्ञान ज्ञानका न होना। परन्तु यहां ज्ञान न होना, मूल अर्थ ज्ञान तो नहीं पर ज्ञान से अतिरिक्त वस्तुरूप लिया जाता है जो दर्शन क्षेत्र में उपयुक्त होता है। योग दर्शन में—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

(योग० २।५)

अनित्य में नित्यदृष्टि या नित्य प्रतीति, अपवित्र में पवित्र दृष्टि या पवित्रप्रतीति, दुःख में सुखदृष्टि या सुखप्रतीति और अनात्म-अपने से भिन्न में आत्मदृष्टि या आत्मप्रतीति--अपनापन समझना अविद्या है।

संसार के पदार्थ अनित्य हैं पर उन्हें नित्य ही मान बैठना उनसे चिपटे रहना। देह अपवित्र है पर उसे पवित्र समझ प्यार करना उस से आलिङ्गन करना। विषयभोग परिणामतः दुःख रूप हैं परन्तु उन्हें सुख मानना। संसार के पदार्थ अपने नहीं हैं अपना साथ देने वाले नहीं हैं आत्मत्व से भिन्न हैं किन्तु उनमें

आत्मभाव करना-अपना आपा समझना-उनके सम्पद् विपद् के साथ अपनी सम्पद् विपद् मानना अविद्या है। सो यह चार स्थानों में आध्यात्मिक क्षेत्र की अविद्या हुई जो दुष्ट प्रवृत्ति है॥

वैशेषिक दर्शन में कहा है—

तद् दुष्टज्ञानम् ॥ (वैशे० ६।२।११)

वह दुष्ट ज्ञान है—विपरीत ज्ञान है, यह अविद्या सर्वत्र स्थानों में विपरीत ज्ञान होना सम्भव है।

और वह—

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥

(वैशे० ६।२।१०)

इन्द्रियों के दोष से और संस्कारों के दोष से अविद्या भूल भ्रान्ति विपरीत ज्ञान होता है॥

क्लेश—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥

(योग० २।३)

अविद्या, अस्मिता—शरीर आदि जड़ में अहम्भाव-मैं समझना-शरीर और आत्मा का अभेद, राग, द्वेष, अभिनिवेश-शरीरानुबन्ध-शरीर न छोड़ने की इच्छा-मरणभय। ये पांच क्लेश हैं॥

इन में—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥

(योग० २।४)

अस्मिता आदि पिछले पांच क्लेशों का अविद्या क्षेत्र है, जो कि वे क्लेश प्रसुप्त—बीजरूप में वर्तमान, तनु-सूक्ष्म-अङ्कुरित-

रूप में आए हुए विच्छिन्न—दबे हुए—अन्योऽन्यप्रभाव में आए हुए जैसे रागकाल में द्वेष का अभिभूत होजाना द्वेषकाल में राग का दबा रहना, उदार—पूर्णरूप में प्रवृत्त होजाना ॥

इन क्लेशों के सर्वथा नाश का उपाय तो है विवेक और वैराग्य जो आगे आने वाले हैं तथापि इनके क्षीण करने का उपाय है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।
समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च ॥
(योग० २।१,२)

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह क्रियायोग—अनुष्ठानयोग समाधिसम्पादनार्थ और क्लेशोंको क्षीणकरणार्थ है। शरीर, मन और आत्माद्वारा ये तीन किये जाते हैं। शरीर से कर्म किया जाता है पर जिस कर्म का प्रवाह या फल बाहिर न होकर मन की ओर जावे मन को निर्मल और स्थिर करे उसे तप अर्थात् संयम कहते हैं। मन द्वारा जिस अध्याय अध्ययन का प्रवाह और फल बाहिर न जाकर आत्मा में जावे उसे स्वाध्याय स्व—अपना अध्याय अध्ययन करना हो उसे स्वाध्याय कहते हैं। तथा आत्मा की प्रवृति जो बाहिर जाती है वह भोग है परन्तु जो प्रवृति बाहिर न जाकर ईश्वर की ओर जावे वह ईश्वरप्रणिधान है। इन तीनों से अविद्या आदि क्लेश क्षीण होते हैं ॥

दुःख—

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ (न्याय १।१।२१)

मानव के आगे बढने तथा वर्तमान एवं यथावत् स्थिति में बाधा प्रतिकूलता का प्राप्त होना दुःख है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥(योग० २।१६)

आनेवाला दुःख हेय कहलाता है और वह हीन करने योग्य है। गत दुःख हेय नहीं क्योंकि वह तो व्यतीत होगया, उसे क्या रोना।वर्तमान दुःख स्वक्षणप्राप्त है भोगाभिमुख है भोग देरहा है, उसे तो साहस धैर्य से सहना ही है भविष्यत् जो अभी नहीं आया उसीका प्रतीकार किया जासकता है। अतः वही दुःख है और वही हेय है॥

सांसारिक सुख दुःख—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥

(वैशे० ५।२।१५)

आत्मा, मन, इन्द्रियों और अर्थों—बाह्यविषयों के संसर्ग से संसारिक सुख दुःख होते हैं॥

यद्यपि दुःख की नितान्त निवृत्ति का उपाय ज्ञान या विवेक है तथापि संसारयात्रा में आए दुःखों के प्रतीकार को इस सूत्रानुसार कल्पित किया जा सकता है कि (१) अर्थ अर्थात् दुःखदायक वस्तु का त्याग, उसे हटा दो फेंक दो (२) यदि दुःखदायक वस्तु का त्याग स्वाधीन नहीं वह उस स्थान से नहीं हटाई जा सकती तो स्वकीय इन्द्रिय को उधर से हटालो न जाने दो आंखे बन्द करलो (३) इन्द्रिय भी नहीं हटाई जा सकती इन्द्रियव्यवहार भी करना पड़ता है तब मनमें उससे विपरीत विचार लाना चाहिए मन का उस इन्द्रिय से उस विषय में सम्पर्क न रहने दो (४) मन भी विषयान्तर न हो प्रस्तुतविषय का चिन्तन न छोड़े तो आत्मा के शासन से वैराग्य का अवलम्बन करना चाहिए। अस्तु उक्त उपाय सूत्र से ध्वनित होते हैं।

सांसारिक सुख भी दुःखभाव से पृथक् नहीं है, कहा भी है—

बदपि दुःखशबलमिति दुःखक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥

(साख्य० ६।८)

उस सांसारिक सुख को भी दुःख मिश्रित होने से दुःख पक्ष में दुःख श्रेणि में विवेकी जन स्थापित करते हैं ॥

योगदर्शन में भी कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ (योग० २।५)

भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति सुख है परन्तु परिणाम उसका है दुःख ही, यह इन्द्रियों का स्वभाव है जैसे जैसे भोगों का अभ्यास बढेगा वैसे वैसे राग और इन्द्रियों में विकलता बढ़ती जायगी, वृश्चिक विष (विच्छू के विष) से डरा हुआ सर्पदष्ट (सांप के डंक) से आहत हो जावेगा। कहा भी है "विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" विष और विषयों में भारी अन्तर है, विषतो खाया पीया हुआ मारता है विषय स्मरणमात्र से भी मार देते हैं, यह परिणामदुःख है। विषयसुख के साधनों को चाहता हुआ शरीर, वाणी और मन से दौड़ धूप करता है किसी को अनुकूल बनाता है और किसी को प्रतिकूल, किसी से प्रेम करता है और किसी का उपघात, इस प्रकार विविध विषम आचरणों से श्रान्ति (थकावट) को प्राप्त होता है यह ताप दुःख है। भोगविषयक सुख से अनुकूल में रागसंस्कार और प्रतिकूल में द्वेष संस्कार मन में जमते हैं वे संस्कार पुनः पुनः अनुकूल को अपनाने और प्रतिकूल को हटाने के लिये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं पुनः वैसा ही दुःख प्रवाह उमड़ता है यह संस्कारदुःख है। इन दुःखों से तथा सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण के

परस्पर विरुद्ध व्यवहारों की उथल पुथल या विरोधी संघर्ष मन में होते रहने से भी दुःख होता है, अतः विवेकी के लिये यह सब दुःख ही है ॥

न्याय दर्शन में कहा है—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥

(न्याय० ४।१।५५)

विविध बाधनाओं के सम्बन्ध या सहभाव से जन्मोत्पत्ति शरीर इन्द्रियमनोमय संस्थान का प्रादुर्भाव दुःख रूप ही है। प्रथम गर्भाशयरूप काल कोठरी में नौ मास बन्द रहना "अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः" (निरु० १४।६) नीचे मुख किए हुए जीव गर्भ के अन्दर पीड्यमान होता है। पुनः प्रसवसमय तंग स्थान से बाहिर खींचे जाने के समान आना पश्चात् बाहिर आकर अति शैशव कालमें अत्यन्त असमर्थ पराधीन जीवन बिताना आदि !

दुःख का हेतु और बन्ध

तस्य हेतुरविद्या ॥ (योग० २।२४)

"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः" (योग० २।१७) आत्मा और अनात्म का संयोग दुःख का हेतु है और उस संयोग का हेतु प्रस्तुत सूत्र में अविद्या कहा है, अतः हेय का-दुःख का हेतु अविद्या, अज्ञान या अविवेक हुआ ॥

अविद्या से द्रष्टा आत्मा और दृश्य अनात्म का संयोग होता है अनात्म जड़ दृश्य के प्रति आत्मा आकर्षित होता है वह संयोग दुःख का कारण बनता है। दृश्य के संयोगमें या तो अत्यन्त दुःख होता है अथवा सुख भी दुःखमिश्रित होता है। परन्तु नितान्त सुख नहीं, विपरीतधर्मी दृश्य के कारण वह आत्मा को विपरीत दिशा में लेजाता है। हाँ यदि द्रष्टा आत्मा का दृश्यसे नहीं किन्तु स्वसदृश सर्वद्रष्टा परमात्मा से संयोग होजावे तो नितान्त सुख हो यह उत्प्रेक्षणीय है।

अविवेक से बन्ध—

अविवेकनिमितको वा पञ्चशिखः ॥(सांख्य० ६।६८)

जीवात्मा का बन्ध अर्थात् संसारमें बन्धन अविवेकनिमित्तक है यह सांख्यसिद्धान्त है पञ्चशिख आचार्य भी इसी सिद्धात को मानते हैं यह प्रमाणरूपमें कथन है। कोई कर्म को निमित्त

मानते हैं इसमें कोई भेद नहीं है क्योंकि कर्म क्लेशनिमित्तक और क्लेश भी अविवेक के अन्तर्गत है ॥

कर्म

ऐहिक कर्म

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ (योग० २।१२)

क्लेशमूलक—क्लेशमूलवाला—अविद्या आदि पञ्च क्लेशों से उत्पन्न होनेवाला कर्माशय†—कर्मसंस्थान—कर्मस्तम्भ है जो कि दृष्ट जन्म—वर्तमान जन्म और भावी जन्म अगले जन्म में भोगने योग्य है ॥

पुनः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ (योग० २।१२)

मूल होने पर अर्थात् अविद्या आदि क्लेश मूल होने पर कर्माशय कर्मसंस्थान कर्मपुञ्जरूप तरु (पौधे) का विपाक अर्थात् पत्ते, फूल और फल भी आते हैं जो त्रिविध विपाक पत्ते, फूल और फल हैं 'जन्मना, जीना, भोगना'। जन्मना है तो जीना है, जीना है तो भोग भी करना है। यह क्रम अनिवार्य है। जैसे तुषों से आवृत शाली—धान उगने में समर्थ होते हैं तुषरहित नहीं या जले हुए तुषवाले नहीं एवं क्लेशों से युक्त कर्माशय फलप्ररोही फलप्रदानार्थ उगनेवाला होता है क्लेशरहित या विवेक अग्नि से दग्ध क्लेश हुआ नहीं। जन्म से मरण पर्यन्त का समस्त कर्माशय एक ही जन्म का प्रवर्तक होता है ॥

---

† कर्माणि—आशेरते यस्मिन् स कर्माशयः—कर्मरूप शाखाएं जिस पर रहें।

क्योंकि—

कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात् कृषिवत्प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥

(मीमांसा० ११।१।२०)

कर्म होने पर—कर्म वर्तमान होने पर उद्भव—उपज परिणाम परिपाक आवश्यक है। कृषि अर्थात् खेती की भांति बीज बोने से पुनः प्रति उद्भव—उपज फल हुआ करते हैं ॥

वे ये कर्मफल—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ (योग० २।१४)

वे सुख फल और दुःख फल क्रमशः पुण्य और अपुण्य कर्म के होते हैं ॥

अत एव वेदान्तदर्शन में कहा है—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॥

(वेदा० २।१।३४)

ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आता। जगत् के अन्दर जो यह कि कोई अत्यन्त सुखी तो कोई अत्यन्त दुःखी दिखलाई पड़ना रूप विषमता है तथा कोई सर्वाङ्गपूर्ण और उसकी तुलना में कोई अत्यन्त विकलाङ्ग या गलिताङ्ग मिलता है यह निर्घृणता निर्दयता ईश्वर की रचना में-ईश्वर में दोष आता है कि उसने इन के ऐसे शरीर दिए हैं। सो यह दोष ईश्वर में नहीं आते क्योंकि यह सब सापेक्ष है—कारण को लेकर है—कर्म को अपेक्षित करके है, ऐसा ही शास्त्र दर्शाता है "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्" (प्रश्नो० ३।७) पुण्य से सुख लोक को ईश्वर लेजाता है और पाप से दुःख को। तथा "एको देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्मा-

ध्यक्षः" (श्वेता० ६।११) सब वस्तुओं में निहित सब प्राणियों का अन्तरात्मा सर्वव्यापक एक ईश्वर कर्माध्यक्ष है जीवों के कर्मों का अध्यक्ष है कर्मानुसार फलप्रदाता है ॥

अविद्या आदि क्लेश मूल है कर्मों का और कर्मों के फल सांसारिक सुख दुःख भोगना बन्धन में पड़ना, दुःख रूप जन्म भी धारण करने को जगत् में आना है इस प्रकार बन्ध भी है और जगत् भी है, वेदान्तदर्शन में कहा है—

वैधर्म्यान्न स्वप्नादिवत् ॥ (वेदा० २।२।२९)

जगत् के पदार्थ स्वप्नवत् या मायावत् नहीं हैं वैधर्म्य होने से, क्योंकि स्वप्नपदार्थों की जागरणकाल में और मायिक पदार्थों की व्यवहारकाल में प्रमाणों से उपलब्धि नहीं होती है किन्तु स्वप्नातिरिक्त तथा मायातिरिक्त पदार्थों की प्रमाणों से सत्तारूप में उपलब्धि होती है यह वैधर्म्य है अतः जगत् या जगत् के पदार्थ मिथ्या नहीं ॥

विद्या या ज्ञान

अदुष्टं विद्या ॥ (वैशे० ९।२।१२)

अदुष्ट ज्ञान—विपरीततारहित ज्ञान विद्या है ॥

न्याय दर्शन में कहा है—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानवत्
प्रतिबोधे ॥ (न्याय० ४।२।३५)

तत्त्वज्ञान—यथार्थ ज्ञान—विशिष्ट ज्ञान से विपरीत प्रतीति मिथ्या ज्ञान का नाश होजाता है जैसे जागरण होने पर-जाग जाने से स्वप्नविषयक अवभास का नाश हो जाता है। विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है ॥

अपवर्ग अर्थात् सांसारिक सुख दुःख से छूटने के लिये भी ज्ञान की अनिवार्यता है—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥
(न्याय० ४।२।४७)

अध्यात्म ज्ञान का श्रवण मनन निदिध्यासन तथा इनके वेत्ता विद्वानों के साथ संवाद-सम्यक् लाभार्थ वाद अर्थात् जिज्ञासापूर्वक वार्तालाप तथा सङ्गसहवास करना आवश्यक है ॥

मोक्ष

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ (न्याय० १।१।२२)

उस बाधनारूप दुःखका अत्यन्त अभाव या उस बाधना-लक्षण दुःख से सर्वथा विमुक्ति सर्वथा छुटकारा अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है ॥

वह दुःख का विमोक्ष क्रमशः होता है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ (न्याय० १।१।५)

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर नाश होजाने पर उत्तरोत्तर नाशक्रम से सब के अनन्तर दुःख पर्यन्त का नाशहोजाने पर अपवर्ग अर्थात् मोक्ष हुआ करता है। बाधनारूप प्रतिकूल प्रतीति दुःख, पुनः पुनः शरीर धारण करना जन्म, सांसारिक विषयों में मन इन्द्रियों और शरीर का व्यवहार प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के निमित्त या कारणरूप रागद्वेषमोहरूप दोष, विपरीत प्रतीति मिथ्या ज्ञान है ॥

तथा—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा
वा चितिशक्तिः ॥ (योग० ४।३४)

पुरुषार्थशून्य—व्यवहारशून्य अर्थात् पुरुष के निमित्त

भोग समाप्त कर चुके हुए सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण का--तीन गुणों का विलीन होजाना स्वकारणमें निवृत्त हो जाना अथवा चिति शक्ति आत्मा का स्वरूप में प्रतिष्ठा पालेना गुणोंके व्यवहारों से गुणसम्पर्क से अलग हो अपने गुणातीत स्वरूप में आजाना कैवल्य अर्थात् मोक्ष है ॥

उक्त सूत्र में "पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्" कथनसे पक्ष में गुणों का कैवल्य नहीं समझना चाहिए किन्तु पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रतिप्रसवः—कारण में लीन होना पुरुष के कैवल्य में अभीष्ट है यह लक्ष्य है क्योंकि गुण पुरुषार्थ हैं पुरुष के लिये हैं उन से छूटकर पुरुष का निजावस्था—केवलावस्था में—अपने में आजाना ही कैवल्य है यह बात निम्न योगसूत्र से भी स्पष्ट है—

तदभावात्संयोयाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।।

(योग० २।२५)

उस अविद्या—अज्ञान के अभाव से द्रष्टा और दृश्यका संयोग पुरुष और बुद्धि का संयोग—आत्मा और अनात्मा का संयोग नहीं रहता, बस यहीहान है यही द्रष्टा या पुरुष या आत्मा का गुणों से पृथक् होजाना उनके मिश्रण या सम्पर्क से अलग हो केवल रूप में आजाना है ॥

सांख्य दर्शन में भी कहा है—

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।। (सांख्य० ३।६५)

यहां 'वा' शब्द 'च' के अर्थ में है क्रम दर्शाने के लिये, अर्थात् 'वा' से पूर्व 'द्वयोः,एकतरस्य' इन दोनों षष्ठीपदों का 'औदासीन्यम्, अपवर्गः' इन दोनोंके साथ यथाक्रम या क्रमशः

सम्बन्ध है। द्वयोः-दोनों प्रकृति और पुरुष का औदासीन्य पृथक्त्व होना सामान्य है परन्तु इस पृथक्त्व में एकतरस्य-अकेले पुरुष का अपवर्ग-मोक्ष है जैसा कि पूर्व योगसूत्र में कहा गया है ॥

प्रकृति का अपवर्ग-मोक्ष क्यों नहीं कोता या क्यों न माना जावे इस के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन में पुनः स्पष्ट किया है—

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यतेऽप्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः ॥

(सांख्य० ३।६६)

अन्य के लिये—अविवेकी के लिये सृष्टिविषयक उपराग अर्थात् प्रवृत्ति होने के कारण प्रकृति विरक्त नहीं होती-अपवर्ग को प्राप्ति नहीं होती, जैसे रज्जुसर्प भ्रम अज्ञातरज्जुतत्त्ववाले पुरुष का निवृत नहीं होता। विवेकरहित के प्रति प्रकृति सृष्टिरचना से पृथक् नहीं होती जैसे अविवेकी के सामने से रज्जुसर्पभ्रम पृथक् नहीं होता उसके साथ रहता ही है अतः अपवर्ग या मोक्ष पुरुष का होता है यही उसका परम पुरुषार्थ है ॥

अतः सांख्यदर्शन में कहा है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

(सांख्य० १।१)

तीन प्रकार के—आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति—नितान्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ पौरुष—मानवीय लक्ष्य या साफल्य है ॥

क्योंकि—

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥ (सांख्य० ६।५)

नितान्त दुःखनिवृति से ही मानवजीवन की कृतकार्यता या सफलता है ॥

मुक्ति में—

दुःखनिवृत्ते र्गौणः ॥ (सांख्य० ५।६७)

मुक्ति में जीवात्मा को आनन्द प्राप्त होने का कथन गोण है मुख्य नहीं, मुख्य तो दुःखनिवृत्ति है। जैसे रोगी का रोग दूर होना मुख्य है पुनः पुष्टि आदि गौण है, बन्धनमें आए हुए का बन्धन दूर होना मुख्य है पुनः विविध विहार तो गौण है। मुक्त पुनः परमात्मा के आनन्द से आनन्दवान् तो बन जाता ही है ॥

केवल—

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ (सांख्य० ५।६८)

मन्दो के लिये विमुक्ति की प्रशंसा है, मुक्ति में आनन्द का प्राप्त होना है, परन्तु विवेकी अथवा प्रथम श्रेणि के अधिकारियों के लिये तो मुक्ति में दुःखनिवृत्ति होजाना ही मुख्य है ॥

तथा—

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्नैवं द्वैविध्यात् ॥
(सांख्य० ६।६)

मुक्ति में सुखलाभ का अभाव समझकर अपुरुषार्थता यदि समझा जावे तो ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि यहां मुक्ति अर्थात् सांसारिक दुःखनिवृत्ति में केवल दुःखनिवृति ही नहीं किन्तु यहां पुरुषार्थ द्वैविध्य है अर्थात सांसारिक दुःखनिवृतिरूप पुरुषार्थ ...प्राप्ति अध्या-

है यहां सांख्यसिद्धान्त में, अतः पुरुषार्थ द्वैविध्य सिद्ध है। कहा भी है" समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" (सांख्य० ५।११६) समाधि सुषुप्ति मोक्ष में ब्रह्मरूपता–ब्रह्मानन्दलाभ तो मुक्ति के अन्तर्गत है ही "सो ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै.उ.- १।२) वह सब कामनाओं को ब्रह्म के साथ प्राप्त करता है। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै०उ०६।३) ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म के आनन्द को अनुभव करता हुआ किसी से भय नहीं करता ॥

वस्तुतः—

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥(सांख्य० ६।२०)

अन्तराय–दुःखगण बाधक या अविवेक है, जिस से पुरुष प्रतिकूलता अनुभव करता है उसका नाश ही मुक्ति है उस से अन्य मुक्ति का स्वरूप नहीं। मुक्ति का अर्थ छूटना है पाना नहीं ॥

परन्तु—

तत्राप्यविरोधः ॥ (सांख्य० ६।२१)

यद्यपि मुक्ति का अर्थ हान–दुःखहान अन्तरायनाश है किन्तु दुःखहान–अन्तरायनाश से अन्य पक्ष अध्यात्म सुख–ब्रह्मानन्द की प्राप्ति मुक्ति कथन में विरोध नहीं है दुःखहान पूर्वक–अन्तरायनाश पूर्वक मुक्ति होती है। दुःखहान या अन्तरायनाश के अनन्तर आध्यात्मिक सुख–ब्रह्मानन्द तो अनिवार्यरूप से प्राप्त होता ही है ॥

वेद में दुःखनिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानन्द या अमृत की प्राप्तिरूप मुक्ति का प्रतिपादन किया है—

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥
(ऋ० ७।५९।१२)

अर्थात् मैं खरबूजे फल के बन्धन से छूटने के समान मृत्यु से छूटूं अमृत से न छूटूं। तथा—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

(ऋ० १।२४।१५)

अर्थात् हे परमात्मन्! तू हमारे स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर-रूप तीन बन्धनों को काट दे अनन्तर निष्पाप हुए अदिति—अखण्ड सुखसम्पत्ति मुक्ति के लिये हम हों। इस मन्त्र का विशेष विवरण देखो पृष्ठभूमि नामक प्राक्कथन में॥

मुक्ति में—

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्॥ (वेदा० ४।४।१)

मुक्त आत्मा जब ब्रह्म में समागम प्राप्त करलेता है तो उसका स्वकीयरूप से प्रकटीभाव होजाता है यह बात शब्दप्रमाण से सिद्ध है। "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूप-सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।" (छान्दो० ८।१२।३) यह आत्मा इस शरीर से पृथक् शरीरबन्धन से छूटकर परमात्मज्योति को प्राप्त हो स्वकीय रूप में आजाता है। सांसारिक मल विक्षेप आवरण से रहित शुद्ध होजाता है। जैसे स्वर्ण अग्नि में पड़कर मलरहित हो अपने स्वरूप में अपनी चमक में आजाता है॥

इस स्थिति में—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥ (वेदा० ४।४।५)

मुक्त ब्रह्मधर्म से युक्त हो अवस्थित होजाता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। क्योंकि उपन्यास अर्थात् दृष्टान्त द्वारा उपपादन करने आदि से, आदि शब्द से फल और व्यवहार भी हेतु अभीष्ट हैं। जीवात्मा का स्वभाव है कि जहां यह रहता है उसके

धर्मों को लेकर रहताहै, पृथिवीलोक में पार्थिव शरीर प्राप्त करके रहता है अग्निलोक में आग्नेय शरीर या आग्नेय धर्म से रहता है, एवं मुक्त हुआ ब्रह्म में ब्राह्म धर्म से रहता है फल भी वह शरीर स्थानीय ब्राह्म धर्म से भोगता है ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है स्वामी दयानन्द ने भी कहा है †।

तथा—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥

(वेदा० ४।४।६)

मुक्त आत्मा मुक्ति में चितितन्मात्र—चेतनस्वरूपता से रहता है "चितिरेव पुरुषः" (योग० १।२। व्यास) आत्मा ही चेतनस्वरूप होने के कारण आत्मस्वरूप से–चैतन्यरूप से रहता है, अचेतनत्व का संस्पर्श भी नहीं होता। क्योंकि तदात्मकत्व चेतनस्वरूप आत्मा है। तब आत्मा स्वकीय रूप से रहता है ऐसा भी कहा जासकता है यह औडुलोमि आचार्य का मत है ‡।

इन दोनों प्रकारों या स्थितियों में—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥

(वेदा० ४।४।७)

बादरायण अर्थात् व्यास ऋषि उपयुक्त निगमन के कारण मुक्ति में आत्मा चितिन्मात्रता से अवस्थित रहने में पूर्वभाव

---

† जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार पर मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता हैं (सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास)

‡ स्वामी दयानन्द ने भी ऐसा कहा है "स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में होजाता है" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

जैमिनि मत के ब्राह्म धर्म से अविरोध है विरोध नहीं, जैसे अग्नि को प्राप्त कर स्वर्ण अग्निताप से तप्त भी होजाता है और मल से रहित हो स्वरूप को भी उपलब्ध करता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूप—पर ज्योति को प्राप्त कर मुक्तात्मा ब्राह्मधर्म को भी लेलेता है और प्राकृतिक सम्पर्क से रहित हो स्वकीय चितिरूप भी पालेता है॥

पुनः—

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ (वेदा० ४।४।८)

जैमिनिमत में आत्मा मुक्ति में ब्राह्मधर्म से रहता है, उस ब्राह्मधर्म में उसका कामचारित्व ऐश्वर्य प्रकट होजाता है "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (प्रश्नो० ७।२५।२) उसका सब लोकों में इच्छाचारित्व होजाता है, वह इच्छाचारित्व केवल सङ्कल्प से ही सिद्ध होजाता है प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती और न ही यह सङ्कल्प के विना होता है। उस समय साङ्कल्पिक शरीर होजाता है ‡। यह बात श्रुति में भी कही है "यं यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते····" (छान्दो० ८।२।१०) जिस जिस कामना को चाहता है वह इसकी सङ्कल्प से ही बनजाती है, उससे सम्पन्न हो महिमा को प्राप्त होता है। उस समय "शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनो···भवति" (शत० १४।४।२।१७) सुनने को साङ्कल्पिक श्रोत्र मनन करने को साङ्कल्पिक मन होजाता है॥

मुक्ति में—

---

‡ यह स्वामी दयानन्द ने भी लिखा है "मुक्ति में···सङ्कल्पमात्र शरीर होता है" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥

(वेदा० ३।३।३२)

ब्रह्मोपासना से मोक्षाधिकार में सम्पन्न या सिद्ध आत्माओं की—मुक्तों की स्वरूपस्थिति मोक्ष में मोक्षानन्द भोग में जितनी योग्यता है—योग्यतानुसार होती है, जिसका जितना ज्ञान होता है उतना ही मोक्ष में उसका आनन्दभोग सम्पन्न होता है उतना ही उसे आनन्दभोग अनुभव होता है ‡।

पुनः वह मुक्त का ऐश्वर्य—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

(वेदा० ४।४।१७)

मुक्त का ऐश्वर्य जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोडकर अन्य सब कुछ करने में समर्थ होता है, परन्तु जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य नहीं करसकता केवल अपने तक व्यापृत रहने में समर्थ होता है अतः मुक्ति में भी मुक्त हुआ आत्मा सर्वथा ब्रह्म में विलीन नहीं होता यह इस से सिद्ध होता है। इस सूत्र पर विशेष जीवात्मा के प्रकरण में लिख आए हैं वहां देखें ॥

समानता केवल मुक्ति में—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गात् ॥ (वेदा० ४।४।२१)

आनन्दस्वरूप ब्रह्म का आनन्दभोगमात्र समान है "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० उ०२।१) वह ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को पाता है। तथा "रसो

---

‡ स्वामी दयानन्द ने भी कहा है "मुक्ति में···जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द होता है" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तै० उ० २।७) वह आनन्दरूप है उस आनन्दरूप को प्राप्त कर आनन्दवान् होजाता है, उसके ज्ञान और आनन्द का उपयोग करना ही साम्यपद है॥

मुक्ति से पुनरावृत्ति—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ (सांख्य० १।१५६)

इस समय—इस सर्ग की भांति सर्वत्रकाल—सब सर्गों में संसार का उच्छेद न होगा क्योंकि जैसे ही मुक्त होते जावेंगे वैसे ही मुक्ति से लौटते भी जावेंगे। अतः सब जीवात्माओं के क्रमशः मुक्त होजाने पर लौटना भी तो क्रमशः होता है। किसी भी पुरुष का परम मोक्ष—ब्रह्म में लय नहीं होता, यदि ऐसा होता तो जगत् का उच्छेद होजाता वर्तमान जगत् भी न दिखलाई पडता न उपलब्ध होता। सांख्यभाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी कहा है "सर्वत्र काले बन्धस्यात्यन्तोच्छेदः कस्यापि पुंसो नास्ति वर्तमानकालवदित्यनुमानं सम्भवेदित्यर्थः"; (विज्ञानभिक्षुभाष्यम्) अर्थात् सबकाल में बन्ध का अत्यन्त उच्छेद किसी भी पुरुष का नहीं होता है वर्तमानकाल की भांति यह अनुमान युक्त है। मुण्डकोपनिषद् में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति कही है" वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वास्ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परि मुच्यन्ति सर्वे ॥ (मुण्ड० ३।२।६) यहां कहा है कि वेदान्त—ब्रह्मविद्या से निश्चित किए ज्ञात कर लिये हैं तत्त्व जिन्होंने संन्यास तथा योगाभ्यास के सेवन से शुद्धान्तःकरण हुए जन ब्रह्मलोक में रह परान्तकाल अर्थात् मुक्तों के मुक्ति में पूर्णकाल होने पर परामृत-मोक्ष से फिर सब लौटते हैं।

वेद में भी कहा है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋ० १।२४।१—२)

अविनश्वर—नित्यपदार्थों में से कौन से का तथा किस गुणवाले का सुन्दर नाम हम मानें जाने स्मरण करें, कौन हमें मही–महती अदिति अखण्ड सुखसम्पत्ति–मुक्ति के लिये पुनः देता है और फिर किस से प्रेरणा पाकर पिता माता को देखूं–देखता हूँ ।

हम अविनश्वर–नित्य पदार्थों में से प्रमुख प्रकाशस्वरूप परमात्मदेव का सुन्दर नाम माने जाने स्मरण करें, वह हमें मही महती अदिति अखण्ड सुखसम्पत्ति—मुक्ति के लिये पुनः देता है और फिर उस से प्रेरित हुआ पिता माता को देखूं—देखता हूं ।

यहां 'अदिति' शब्द मुक्ति के लिये है हम विस्तार से 'पृष्ठ भूमि' भूमिका के अन्तिम भाग में स्पष्ट कर आए हैं वहां देखें ।

तथा—

क त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहेऽवृकं पुराचित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥
(ऋ० ७।८८।५)

हे वरने योग्य वरने वाले आनन्दरसपूर्ण रसीले परमात्मन् ! "नौ त्यानि सख्या क बभूवुः" हम दोनों के वे सखिभाव-समान ख्यानसम्बन्ध समान स्नेह सम्बन्ध कहां चले गए "पुरा चित्-यत्-अवृकं सचावहे" पहिले कभी जो अच्छिन्न अभिन्न

सखिभाव था जिसे पहिले कभी हम दोनों सेवन करते थे, उसे अब सेवन करें "ते बृहन्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं जगम" तेरे महान् तथा संसार को मापने वाले—संसार जिसके सम्मुख तुच्छ एक-देशी है उस ऐसे सहस्रोंद्वारों वाले–असंख्य द्वारोंवाले–अनन्त द्वारों वाले घर अर्थात् खुले घर मोक्षरूप खुले घर को प्राप्त कर सकूं-अव्याहत गति वाले मोक्षरूप घर को मैं पा सकूं। जीवात्मा का शरीर भी एक घर है परन्तु यहां निकलने को द्वार नहीं यह बन्धी-घर है किन्तु मुक्तिरूप घर अनन्त द्वारों वाला खुला घर बन्धन रहित घर अपि तु विचरण सदन है॥

यहां मन्त्र में दर्शाया गया है जीवात्मा पहिले भी मोक्षरूप घर में रह चुका है वहां समानसख्य परमात्मा के साथ रहा था उसे स्मरण किया जा रहा है यह उस व्यतीत मोक्ष सम्पत्ति का पुनः स्मरण करना मुक्ति से पुनरावृत्ति को सिद्ध करता है॥

मोक्ष के उपाय

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ (वैशे० ६।२।१७)

आत्मकर्मों में अर्थात् बाह्य उपकरणजन्य कर्मों को छोड़ केवल आत्मा के अन्दर जो अध्यात्म कर्म—आन्तरिक कर्म मनन निदिध्यासन योगभ्यास आदि हैं उनसे ही मोक्ष होसकता है वे ही मोक्ष के उपाय हैं ॥

वेदान्तदर्शन में भी कहा है—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया
तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ (वेदा० ३।४।२७)

तथापि शम दम आदि साधनयुक्त मुमुक्षु को होना चाहिए। कहा भी है "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृह० ४।४।२३) शान्त दमनशील वैराग्यवान् तपस्वी समाहित होकर ही अन्तरात्मा में परमात्मा को देखता है, क्योंकि इनके अवश्य अनुष्ठान करने योग्य होने से ये शम दम आदि मोक्ष विधि के अङ्ग होने से अनुष्ठेय हैं ॥

सांख्यदर्शन में भी कहा है—

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ (सांख्य० १।५६)

अविवेक से बन्ध है और अविवेकनाश का नियत अर्थात् प्रतियोगी एकमात्र कारण विवेक है उससे अविवेक दूर होता है जैसे अन्धकार का प्रतियोगी एक मात्र कारण प्रकाश है ॥

तथा—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरात् ॥

(सांख्य० ३।८४)

विवेक से समस्त दुःखनिवृत्ति होती है इसी में कृतकृत्यता है, इतर से—विवेकभिन्न केवल कर्म से नहीं ॥

न्यायदर्शन में भी—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चात्मविध्युपायैः ॥

(न्याय० ४।२।४६)

अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिये यम नियमों तथा योगशास्त्र से भी लिए अध्यात्मविधिरूप उपायों के द्वारा आत्मसंस्कार करना ॥

सांख्यदर्शन में और भी—

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥

(सांख्य० ४।१८)

केवल उपदेश श्रवण से ही कृतकृत्यता नहीं होती है परामर्श अर्थात् मनन निदिध्यासन साक्षात्कार के विना विरोचन की भांति ॥

किन्तु—

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥

(सांख्य० ६।५८)

विमुक्तिश्रुति उपदेश श्रवण से श्रवणचतुष्टय की परम्परा से है कि श्रवण के पश्चात् मनन करे पुनः निदिध्यासन फिर साक्षात्कार करे "एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृध्य धर्म्यमणुमेतमाप्य स मोदते मोदनीयं लब्ध्वा" (कठो० १।२।१३) इसका श्रवण करके मनन करके निदिध्यासन करके पुनः आप्य-प्राप्त करके—साक्षात्कार करके इस प्रकार श्रवण चतुष्टय का वर्णन है॥

तथा—

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥
(सांख्य० ३।२९)

यमनियम आदि योगाभ्यास के अनुष्ठान तथा मानस जप ध्यान से भावनोपचय—पवित्र भावनासंवर्धन–परमात्मानुराग भावनाओं का संवर्धन होता है. पुनः योगाभ्यासी या ध्यानी शुद्ध पवित्र और वृत्तिरहित होजाता है उस ऐसे शुद्ध पवित्र वृत्तिरहित वासनातीत योगी ध्यानी का यह सब उक्त साधन मुक्ति प्राप्ति में प्रकृतिवत् अर्थात् मूलसाधनवत् होजाता है। मूल साधन है ज्ञान, ज्ञान का अङ्ग बन जाता है। कहा भी है "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः" (योग० २।२८) योगाङ्गो के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होजाता है पुनः ज्ञान की दीप्ति बढ़ती चली जाती है जब तक विवेकदर्शन या मुक्ति न होजावे। तथा "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः" (मुण्ड० ३।२।६) वेदान्तविज्ञान से सुनिश्चितत्त्ववान् संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण जन, इत्यादि में भी योग का महत्त्व बतलाया है। अथवा 'प्रकृतिवत्' प्रकृति—स्वभाव, यथास्वभाव सब होजाता है स्वभाव ही पुरुष—आत्मा का नित्यशुद्धबुद्धमुक्तत्व है "न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-

स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" (सांख्य० १।१६) अथवा 'प्रकृति-वत्' प्रकृति—सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की साम्यावस्था समावस्था गुणचेष्टारहितावस्था है वैसे ही उस वृत्तिरहित योगी ध्यानी का चित्त अन्तःकरण गुणों की विषमता से रहित गुणों के अधिकार से रहित होजाता है। इस प्रकार मोक्षप्राप्ति में योगाभ्यास और वैराग्य भी अनिवार्य साधन है॥

अभ्यास और वैराग्य

अभ्यास—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ (योग० १।२)

चित्त की वृत्तियों के निरोध अर्थात् एकत्र-एकाग्र और सर्वथा विलुप्त करदेने अन्तर्लीन करने को योग कहते हैं ॥

चित्त की पांच भूमियां (स्टेजें) हैं "क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः" (व्यासः) क्षिप्त-चञ्चल, मूढ मूर्च्छित विक्षिप्त—बाधित, एकाग्र—एकवृत्तिता और निरुद्ध सर्वनिरोध। इन में एकाग्र और निरोध तो योग है। चित्त स्वभावतः सत्त्वगुणी है सत्त्वभूमिवाला है जैसे वस्त्र की श्वेत भूमि अपनी होती है। जब चित्त रजोगुण और तमोगुण से युक्त होता है तब वह त्रिगुणी होता है क्योंकि सत्त्व भूमि पर रजोगुण और तमोगुण का सम्पर्क होजाता है उस समय वह ऐश्वर्य की ओर चलता है जैसे सत्त्वभूमि सदृश श्वेत वस्त्र पर लाल रंग रजोगुणस्थानी और कृष्ण रंग तमोगुणस्थानी चढने से वस्त्र अद्भुत दीखने लगता है, जब चित्त तमोगुण से युक्त होता है तो वह अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य की ओर गया हुआ होता है सत्त्वगुण तो चित्त की भूमि है तमोगुण और आजाता है इसे तमोगुणी कहा जाता है जैसे वस्त्र श्वेतभूमि

वाला है उस पर काला रंग चढजाने से वह काला ही काला दीखने लगता है। जब चित्त की सत्त्वभूमि पर रजोगुण आजाता है तब रजोगुणी कहा जाता है उस समय वह धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ होता है जैसे वस्त्र की श्वेतभूमि पर लाल रंग चढ जाने से वह शोभायमान हो जाता है। जब चित्त अपनी निजी सत्त्वगुणी भूमि अर्थात् स्थिति में ही होता है तब वह वस्त्र की अपनी श्वतभूमि में स्थित होने के समान स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है तथा चेतन-आत्मा और चित्त का पृथक् पृथक् बोध करानेवाला होता है, इस अवस्था में इसे सत्त्वगुणी कहते हैं। गुणों के भेद से चित्त की चार अवस्थाएं होजाती हैं जोकि सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी और त्रिगुणी। परन्तु आत्मा इन गुणों से गुणकृत अवस्थाओं से सर्वथा पृथक् है या इनके सम्पर्क से अलग है॥

वह निरोध—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ (योग० १।१२)

अभ्यास और वैराग्य से उन चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। चित्त एक ऐसी नदी के समान है जिसके वहने के दो प्रवाह हों। इस चित्तरूप नदी का एक प्रवाह संसार की ओर वहता है दूसरा मोक्ष की ओर। वैराग्य से संसार की ओर वहने वाले प्रवाह को बन्द किया जाता है और अभ्यास से मोक्ष के प्रवाह को खोला जाता है या चालू किया जाता है॥

इन दोनों अभ्यास और वैराग्य में—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ (योग० १।१३)

चित्त की स्थिति में जो यत्न किया जाता है वह अभ्यास है। चित्त की स्थिति प्रशान्त है उस में यत्न करना यम नियम

आसन आदि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान करना अभ्यास है ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥
(योग० १।१४)

वह अभ्यास दीर्घकाल—बहुतकाल तक निरन्तर तथा सत्कार अर्थात् ब्रह्मचर्य तप श्रद्धा और विद्या के साथ सेवन किया हुआ दृढभूमि—पक्कीभूमिवाला बनता है फिर सहसा विषय के साम्मुख्य या आक्रमण से डिगता नहीं ॥

अभ्यास नामक योग के अङ्ग—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ (योग० २।२८)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि आठ अङ्ग हैं ॥

जिन में यम—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ (योग० २।३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। ये पांच यम हैं।

इन का व्यासभाष्य में स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि "अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः" सर्वथा सर्वप्रकार से सर्वदा—सर्वकाल में सर्वप्राणियों के प्रति वैरत्याग अतः मनसा वाचा कर्मणा हिंसात्याग। "सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथाऽनुमितं तथा वाङ्मनश्च' मन और वाणी का अर्थानुसार—वस्तु के अनुसार होना जैसी वस्तु इन्द्रियों से साक्षात् की हो तथा मन से अनुमान या विद्या के द्वारा जानी हो वैसा ही वाणी और मन का होना, जैसा मन में वैसा वाणी

में और जैसा वाणी में वैसा मन में होना अर्थात् जो कहना सो मानना जो मानना सो कहना। "स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयम्" दूसरे से अशास्त्रपूर्वक शास्त्रविरुद्ध द्रव्यों का लेना स्तेय—चोरी है उसका प्रतिषेध-ऐसा न करना अस्तेय है पुनः अस्पृहारूप-दूसरे के धन में स्पृहा लालसा भी न रखना अस्तेय है। "ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः" गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम—इन्द्रिय-विकार त्याग ब्रह्मचर्य है। "विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्ग-हिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः" विषयों के संग्रह, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोषों के देखने से अस्वीकार—विषयों का स्वीकार न करना। इन अहिंसा आदि पर अधिक विवरण देखें हमारी लिखी "वैदिक योगामृत" पुस्तक में॥

नियम—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

(योग० २।३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं।

शौच—शरीर वस्त्र स्थान की शुद्धि। सन्तोष—साधन और शक्ति के अनुसार कार्य करना तथा फल पर निर्भर रहना। तपः—निज कार्यसाधना पर दृढ रहते हुए प्राप्त द्वन्द्वों—भूख प्यास सुख दुःख शीत उष्ण आदि का सहना। स्वाध्याय—मोक्ष-शास्त्रों का पढना। ईश्वरप्रणिधान ईश्वर के प्रति अपना तथा अपने कर्मलाप का समर्पण करना अर्थात् जो कुछ करना उसकी आज्ञापालन के निमित्त और उसकी प्राप्ति के लिये समझ कर करना सांसारिक स्वार्थों को तुच्छ समझना। व्यास

भाष्य में कहा है कि—

शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा । स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः । संसारबीजक्षयमीक्षमाणः । स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

अर्थात् शय्या पर हो आसन पर बैठा हो या मार्ग चल रहा हो स्वस्थ संशयग्रन्थियों से रहित संसार के बीज वासना या रागद्वेष मोह को क्षीण करने की इच्छा रखता हुआ नित्य योगी अमृत भोग का भागी बनता है ।

ये दोनों यम और नियम योगाङ्गो में व्रताभ्यास हैं शेष योगाङ्ग आसन से समाधिपर्यन्त क्रियाभ्यास हैं ॥

आसन—

स्थिरसुखमासनम् ॥ (योग० २।४६)

शरीर का स्थिर होना निश्चल होना सुख जिसमें हो वह आसन है

और वह ऐसा आसन—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ (योग० २।४७)

शारीरिक प्रयत्न के शैथिल्य—प्रयत्न के अभाव से और अनन्त आकाश में अङ्ग अङ्ग की समापत्ति-एकता-मिलादेने से बनता है ।

सामान्यरूप से शरीराङ्गों की गतिनिवृत्ति का नाम आसन—बैठना है । योगाभ्यास में विशेषरूप से बाह्य तथा आन्तरिक अङ्गों की चेष्टानिवृत्ति सर्वथा अपेक्षित है । व्यास-भाष्यानुसार 'प्रयत्नोपरमात्' प्रयत्नमात्र का उपराम करदेना है । पुनः शरीराङ्गों को अनन्त आकाश में एकीभाव-न प्रतीत होने जैसा बनादेना ।

वेद में—

संसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः ।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्तदर्शतम् ॥
(ऋ० १।३६।६)

हे ज्ञानवान् ध्यानाभ्यासी जन ! तू समासीनहो—भली प्रकार बैठ-नितान्त शरीर एवं शरीराङ्गों की चेष्टाओं को निवृत्त कर-उन्हें ढीला कर और विलीनसा कर तू शरीररूपनहीं किन्तु शरीर से पृथक् महान् हो—महत्त्ववान् हो—महान् परमात्मा में आश्रय ले शरीर को भूलजा अपने इष्ट देव परमात्मा की प्राप्ति की अतिकामनावाला तू उज्ज्वल बन बाहिर से मन को हटाकर अन्तर्दृष्टिवाला बन अपना श्रेष्ठ दर्शनीय सुन्दर निश्चल चेतन स्वरूप सम्पादन कर।

यहां शरीर को निश्चेष्ट करना शिथिल करना, शरीर को भूलकर परमात्मा के आश्रय में महत्ववान् बनाना प्रकाशस्वरूप परमात्मा में ज्ञान प्रकाश धारण कर उसका अनुरागी बना, अपने अन्दर उस दर्शनीय साक्षात्करणीय परमात्मा के साक्षात्करणार्थ उद्यत होना कहा है ॥

प्राणायाम—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥
(योग० २।४४)

पूर्वोक्त आसन के लग जाने पर श्वास-बाहिर से अन्दर आनेवाले वायु और प्रश्वास—अन्दर से बाहिर निकलने वाले वायु की गति का रोक देना प्राणायाम है।

वेद में—

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः ॥ (अथर्व० ११।६।५(

हे प्राण ! तुझ अन्दर आते हुए के लिये नमः—स्वागत हो बाहिर जाते हुए के लिये स्वागत हो तुझ अन्दर स्थिर हुए के लिये स्वागत हो अपि च बाहिर स्थिर हुए के लिये स्वागत हो।

श्वास का अन्दर आकर स्थिर होजाना एवं बाहिर निकल कर स्थिर होजाना ये दो प्रकार के प्राणायाम यहां वेदने दर्शाए हैं, जैसे श्वास का लेना और छोडना स्वागत के योग्य हैं-स्वास्थ्य के लिये हितकर हैं एवं श्वास लेकर अन्दर रोकना तथा बाहिर निकाल कर बाहिर रोकना भी स्वागत के योग्य—स्वास्थ्य के लिये हितकर है यह यहां जानना चाहिए। प्राणायाम से प्राणयन्त्र को विश्राम मिलता है तथा उसका शोधन होता है ऐसा वेद का लक्ष्य है। बाहिरी निर्जीव भौतिक कला यन्त्र (मशीन) को विश्राम देने पर तो उस में खडे खडे मल लग जाता है पर इस प्राणयन्त्र को प्राणायाम द्वारा विश्राम देने पर आन्तरिक सूक्ष्म व्यापार से शोधन (सफाई) होजाती है॥

प्रत्याहार—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां
प्रत्याहारः ॥ (योग० २।५४)

इन्द्रियों का अपने विषय से हट जाने पर चित्तस्वरूप के अनुसार होजाना या इन्द्रियशक्तियों का मन में विश्राम पालेना प्रत्याहार है।

वेद में—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षु वीर्दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये॥
(ऋ० ६।४।६)

मेरे कान अपने शब्दव्यसन से विगत होगए—अलग होगए—हटगए, इन्होंने शब्दव्यसन को छोड़ दिया नेत्र अपने रूपव्यसन से अलग होगया, उसने रूपव्यसन छोड़ दिया अहं ज्योति यह जो हृदय में रखी है वह अपने अहंमम भाव से विगत होगई अलग होगई—इसने अहङ्कार ममकार करना छोड दिया दूर दूर की सोचने वाला मेरा मन अपने सङ्कल्प विकल्परूप प्रपञ्च से अलग होगया इसने सङ्कल्प विकल्प प्रपञ्च को छोड दिया मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं और क्या मानूं॥

ज्ञानेन्द्रियों में कान और आंख प्रधान हैं इनकी प्रधानता वेद में अनेक स्थानों पर प्रदर्शित की गई है ये अपने विषय से अलग होगई तो सभी इन्द्रियां अपने विषयों से अलग होगई। यहां वैदिक प्रत्याहार में अन्तःकरण का प्रत्याहार भी दर्शाया है अन्तःकरण चतुष्टय का प्रत्याहार समझना चाहिए। मनुष्य को सांसारिक विषयों में आकर्षित करनेवाले कान, आंख, मन और अहङ्कार की ममत्ववृत्ति हैं। कानों को गाना बजाना आदि खींच लेता है आंखों को रूप खींच लेता है। पुत्र दारा आदि अहङ्कार नामक अन्तःकरण को खींच लेते है और नाना प्रकार के कामभाव तथा सङ्कल्प विकल्प मन को खींच लेते हैं। सो इन अपने व्यवहारों से इन्द्रियां और अन्तःकरण का हटजाना यहां वेद ने प्रत्याहार प्रदर्शित किया है। यह ऊंचा प्रत्याहार है।

लोकभावना प्रताभ्यास—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ (योग० १।३३)

सुखी जनों के प्रति मित्रभावना, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं को देख प्रसन्न होना और पापत्माओं के प्रति उपेक्षा की

भावना रखने से चित्त प्रसादन होता है निर्मल और एकाग्र होता है।

इन मैत्री आदि से मानस दोष दूर होते हैं। सुखी जनों को देख उनके प्रति अपने मन में ईर्ष्या दोष आजाने की सम्भावना है पुनः उनके प्रति मित्रभावना बनाने से उक्त दोष उत्पन्न न होगा। दुःखियों को देख उनके अनादर और उनके पीडन का विचार आसकता है किन्तु उन पर दयाभाव उपजाने से वह दोष फिर मन में नहीं आता। पुण्यात्मा को देख उनके उपहास तथा उन्हें पदच्युत करने का भाव आजाता है किन्तु उन्हें देख प्रसन्नता उपजाने से उस दोष से बच जाता है और अपने अन्दर भी उनके सद्गुणों को धारण करने की प्रवृति होजाती है। पापात्मा के सम्पर्क से अपने में भी पाप के सम्पर्क का सम्भव है परन्तु उपेक्षा से उक्त दोष से बचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे चित्त में यथोचित मित्रभाव, दया, प्रसन्नता, उपेक्षा भावना की पूर्णता से चित्त अनायास स्थिर, प्रसन्न और निरुद्ध होजाता है।

तथा—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ (योग० १।२६)

चित्त यदि विषयों के राग से रहित होजावे अथवा राग ही विषय जाता रहा जिस चित्त में से (राग न रहने से द्वेष भी स्वतः चला जाता है) वह ऐसा चित्त स्थिर होजाता है॥

वेदान्त दर्शन में भी ध्यान का विधान है—

ध्यानाच्च ॥ (वेदा० ४।१।८)

उपासना ने ध्यान की भी आवश्यकता है। उपासना में जहां श्रवण मनन निदिध्यासन की आवृत्ति करनी होती है तथा

आसन आदि सेवनीय होते हैं वहां साथ में ध्यान भी अत्यावश्यक है। वहां ध्यान शब्द योग के धारणा ध्यान समाधि इन तीनों के लिए आया है॥

और फिर ध्यान—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ (योग० १।३६)

जो भी अभिमत हो उसका ध्यान करने उस पर मन के रखने से भी मन स्थिर होजाता है॥

यह सूत्र निर्बल पक्ष में है कि जब अन्यत्र उच्च अभ्यास में मन न लगे तो जिस पर भी लगे ठहरे ठहरा लिया जावे। इस का निर्बल पक्ष व्यासभाष्य में दिखलाया है "तत्र लब्धस्थिति-कमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते" वहां स्थिति प्राप्त कर अन्यत्र भी स्थिति प्राप्त कर सकता है। यह टिप्पणी इसी सूत्र पर देने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह सूत्र यिर्बल पक्ष का है। यहां यह भी स्मरण रहे कि किसी मूर्ति की पूजा से यह कार्य सिद्ध न होगा क्योंकि सूत्र में ध्यान शब्द दिया है पूजा नहीं पूजा और ध्यान में भारी अन्तर है, पूजा बाहिरी साधनों से होती है और ध्यान मन से होता है अतः यह सूत्र ध्यान का प्रतिपादक है। उक्त सूत्र प्रदर्शित 'यथाभिमत ध्यान' सबसे छोटा अभ्यास था, अब बढाते बढाते अभ्यास की अन्तिम सीमा का स्थान है—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥

(योग० १।४०)

सूक्ष्म या लघु में अभ्यास की अन्तिम सीमा परमाणु है जिसका किसी भी बाह्य साधन से विभाग करना तो दूर रहा किन्तु बुद्धि से भी जिसका विभाग न हो सके, तथा महद्वस्तु-बड़े पदार्थ में अभ्यास करते हुए अन्तिम सीमा है अभ्यास की

परममहत् अर्थात् आकाशपर्यन्त, इस प्रकार परमाणु और परममहत् पर्यन्त इस चित्त का वशीकार करना चाहिए। इस के पश्चात् अभ्यास क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती॥

वेद में योगाङ्गों का निर्देश है, कुछ अङ्गों के सम्बन्ध में पूर्व लिख आए यहां धारणा ध्यान समाधि इन तीन अन्तिम अङ्गों के लिये वेद के निर्देश देते हैं अन्य अधिक विवरण देखें हमारी लिखी "वैदिक योगामृत" पुस्तक में।

धारणा—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ (योग० ३।१)

चित्त का किसी स्थान में बान्धना—लगाना धारणा है॥

वेद में—

यस्माहते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥

(ऋ० १।१८।७)

जिस के बिना विद्वान् का भी अध्यात्म यज्ञ सिद्ध नहीं होता वह इष्टदेव परमात्मा धारणाओं के योग-संयोग-सम्बन्ध को प्राप्त होता है॥

ध्यान—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ (योग० ३।२)

धारणा में चित्त को जहां रखा हो लगाया गया हो उसकी एक प्रवाहता या एकरस प्रतीति ध्यान है॥

वेद में—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या [आ भरेम]॥

(यजु० ११।२)

हम ध्यानद्वारा युक्त मन से—ध्यान में लगे मन से उत्पादक प्रेरक उन्नायक प्रकाशमान परमात्मदेव के ऐश्वर्यस्वरूप में जो सुखों में योग्य सुख परमानन्द मोक्ष है उस को प्राप्त करने के लिये शक्ति से—आत्मशक्ति से अपना समर्पण करें ॥

समाधि—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

(योग० ३।३)

वह ध्यान ही वस्तुमात्र प्रतीतिरूप निजस्वरूप से शून्य-जैसा निज की विवेचना से रहित भान होना—अपने में की ओर वृत्ति न जाना समाधि है ॥

वेद में—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८।४४।२३)

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! जबकि मैं तू होजाऊं और तू भी मैं हो जा तो तेरे आदेश तेरी हितभावनाएं इस जीवन में सत्य होजावें—सफल होजावें ॥

उपास्य के गुण उपासक में आया करते हैं, वेद में भी कहा है "तजोऽसि तजो मयि धेहि···"(यजु० १९।९) परमात्मन् ! तू तेजःस्वरूप है मुझ में भी तेज स्थापित कर इत्यादि । समाधि में उपासक के उपास्य में तल्लीन होजाने से वह उपास्य के गुणों को धारण करता है, जैसे लोहे का गोला अग्नि में पडने से अग्नि-जैसा जाज्वल्यमान—प्रकाशमान होजाता है इस अंश में तो वह गोला अभिन्न होजाता है परन्तु निज परिमाण लोहे का गोल आदि स्वरूप पृथक् भी रहता है । इसी भांति समाधि में

आत्मा परमात्मा के समान गुण धारण करता हुआ भी स्वरूप से भिन्न ही रहता है, और अग्नि लोहे के गोले में गोल सी दीखने लगती है पर गोले के बाहिर भी तो है ही। यही आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में समाधि में हो जाता है॥

वैराग्य—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

(योग० १।१५)

दृष्ट—इन्द्रियों द्वारा अनुभूत विषयों तथा आनुश्रविक—शास्त्र एवं आचार्यों द्वारा सुने हुए और इस लोक से परे या अतीन्द्रिय विषयों से वितृष्ण अर्थात् तृष्णारहित मनुष्य की वशीकार-प्रतीति स्वाधीनत्वानुभूति अर्थात् उन में न जाने की न फंसने की साधिकार भावना कि अब इधर नहीं जाना इन्हें नहीं स्वीकार करना मैं इनके अधीन नहीं ये मेरे अधीन हैं वश में हैं यह वैराग्य है॥

वेद में भी दृष्ट वैराग्य का प्रतिपादन निम्नरूपमें है—

उतैषां पितोत वा पुत्रएषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥

(ऋ० १०।८।२८)

किसी मनुष्य के सम्बन्ध में निर्देश किया जाता है कि यह इन बच्चों का पिता है और इन वृद्धो का पुत्र है, इन छोटे भाइयों का ज्येष्ठ भ्राता है और इन बड़े भाइयों का कनिष्ठ भ्राता है। एक ही महानुभाव भिन्न भिन्न के मन में भिन्न भिन्न रूप से प्रविष्ट हुआ है तथा वही मनुष्य किसी देवी के लिये प्रथम जात—नवजात पुत्र के रूप में अपनाया जा रहा था और वही गर्भ के अन्दर माना जा रहा था। मनुष्य एक होने पर भिन्न

भिन्न के अन्दर भिन्न भिन्न मनोभावना से मन के भिन्न भिन्न अभ्यास से भिन्न भिन्न रूप में देखा जा रहा है। इस प्रकार माता में मातापन पिता में पितापन भ्राता में भ्रातापन और पुत्र में पुत्रपन का ममत्व मन में सहवास और अभ्यास से स्थिर होता है, उत्पत्ति से इस ममत्व का सम्बन्ध नहीं है ॥

इस प्रकार यह अपर वैराग्य (छोटा वैराग्य) था और पर वैराग्य (ऊंचा वैराग्य) है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ (योग० १।१६)

दृष्टानुश्रविक विषयवैराग्य से परे या उत्कृष्ट वैराग्य है परमात्मदर्शन से सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण से वितृष्ण होजाना तृष्णारहित होजाना। प्रथम वैराग्य विषयों के दोषदर्शन से उन से वितृष्ण होना। और यह वैराग्य परमात्मदर्शन से सत्त्वादिगुणों से वितृष्ण होना। यह पूर्व वैराग्य से उत्कृष्ट है इस के बिना कैवल्य नहीं होसकता, यही कैवल्य का साधन है। पूर्व का वैराग्य था ग्लानि घृणा के रूप में दोषदर्शन द्वारा जैसे चरपरी लाल मरिच से बालक को घृणा हो जाती है पुनः नहीं खाता, यह दूसरा वैराग्य है अन्य वस्तु गुणदर्शन के प्रेमवश दोषयुक्त दिशा की ओर भी न देखना जैसे उसी बालक को पुनः मिष्टमोदक खाने से मोदक के प्रेमवश मरिच की भूमि से भी विरक्त होजाना होता है ॥

योगाभ्यास और उपासना के फल

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ (योग० १।१२)

अभ्यास और वैराग्य जो अभी कह आए हैं उन से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है ॥

पुनः—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग० १।३)

सूत्र में 'द्रष्टुः' पद का 'स्वरूपे' पद के साथ भी सम्बन्ध होसकता है 'द्रष्टुःस्वरूपे' अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप में। तथा 'अवस्थानम्' पद के साथ भी सन्बन्ध होसकता है 'द्रष्टुः-अवस्थानम' अर्थात् द्रष्टा का अवस्थान। इस प्रकार सूत्र के दो अन्वय होजाने से अर्थ भी दो होसकते हैं। दोनों अन्वय और अर्थ यहां देते है ॥

प्रथम अन्वय—

तदा द्रष्टुः-अवस्थानं स्व-रूपे [भवति]।

उस समय—जबकि चित्तवृत्तियों का निरोध होजाता है तब द्रष्टा—चितिशक्ति—आत्मा का अवस्थान अर्थात् विराजमानता अपने रूप में होजाती है।

चित्तवृत्तिनिरोध होजाने पर द्रष्टा-आत्मा का न अभाव होजाता है और न सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण का अवशेष

रहता है किन्तु आत्मा गुणातीत विशुद्ध केवल होजाता है।

द्वितीय अन्वय—

तदा द्रष्टुः स्वरूपे [चितेः] अवस्थानं भवति।

उस समय—जबकि चित्तवृत्तिनिरोध होजाता है तब द्रष्टा—सर्व द्रष्टा—सर्वसाक्षी परमात्मा के स्वरूप में चितिशक्ति आत्मा का अवस्थान विराजमानता होजाती है॥

चित्तवृत्तिनिरोध होजाने पर चितिशक्ति—आत्मा की विराजमानता सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में होजाती है अर्थात् उस समय चित्त से सम्बन्ध छूटा तो प्रकृति का बन्धन टूटा। चित्त प्रकृतिरूप है अतः उससे सम्बन्ध छूटने पर सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी विभु परमात्मदेव के स्वरूप में आत्मा की विराजमानता अनिवार्य एवं वाञ्छनीय सिद्ध होजाती है, कारणकि आत्मा आलिङ्गनधर्मी है उसे आश्रय चाहिए, वह आश्रय प्रकृति हो या परमात्मा। वेद में कहा है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥
(अथर्व १०।८।२५)

अर्थात् एक जो आत्मा है वह बाल से भी अधिक अणु है दूसरा जो परमात्मा है वह न दिखता जैसा है। इन दोनों में परिष्वङ्ग करनेवाली—आलिङ्गन करनेवाली मेरी प्यारी देवता आत्मा है इस प्रकार प्रकृति से सम्बन्ध छूटने पर विभु परमात्मा में सम्बन्ध होजाना स्वाभाविक और अनिवार्य है।

पुनः—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ॥

(योग० ४।३४)

योगाभ्यास के अनुष्ठान से चित्त के सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण पुरुष के अर्थशून्य-व्यवहारशून्य होजाते हैं पुनः चितिशक्ति आत्मा स्वरूपप्रतिष्ठित होजाने से उसे कैवल्य मोक्ष प्राप्त होजाता है। सूत्रव्याख्यान देखो मोक्ष के प्रकरण में ॥

वेदान्तदर्शन में उपासना का फल—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥

(वेदा० ३।३।५२)

अनुबन्ध अर्थात् फल परमात्माके साथ ताद्विध्य-तत्साहश्य-तद्धर्मप्राप्ति-उसके गुणोंकी प्राप्ति है इसमें शब्द प्रमाणका बाहुल्य है "यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डको० ३।२।६) जो उस परम ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है-परम ब्रह्म के अधिकांश में गुण धारण करता है। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डको० ३।१।३) जब देखने वाला ज्ञानी जन स्वर्णरूप शुभ्र कर्ता वेदप्रतिपाद्य परमात्मा को देखता है तब वह पुण्य पाप को छोड़ कर निःसङ्ग हो अभीष्ट समानता को प्राप्त करता है ॥

वेद में कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(यजु० ३१।१८)

मैं इस सूर्यके समान प्रकाशमान अन्धकार से पृथक् वर्तमान महान् विश्वमें पूर्ण परमात्मा को जानूं उसकी उपासना करूं, क्योंकि उसीको जानकर एवं प्राप्त कर मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है अन्य मार्ग मोक्ष प्राप्तिका नहीं है उस परमात्मा को जानना मानना पाना उसकी उपासना करना ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। ब्रह्मज्ञान ब्रह्मोपासना का फल मृत्यु का अतिक्रमण कर मोक्ष को प्राप्त होना है॥

इति स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

५।३।१९५

सांख्यदर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्

अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु आदि भाष्यकार इस दर्शन को निरीश्वरवादी मानते रहे, सङ्गति ठीक न लगा सकने के कारण इसे अनीश्वरवादी कह दिया। स्वामी ब्रह्ममुनि जी के भाष्य ने इस समस्या को सुलझा दिया कपिलसूत्रों से सप्रमाण ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर दिया है। "निराशः सुखी पिङ्गलावत्" आदि दृष्टान्तों का सारगर्भित अर्थ प्रकट कर स्वाभाविकता को दिखला दिया है। कई विद्वान् सांख्यदर्शन को ईश्वरकृष्णकृत सांख्य-कारिका से भी नवीन मानने लग गए थे, आपके भाष्य ने उनकी इस धारणा को हटाकर प्राचीनता की धारणा को अवलम्बन दिया है।

आत्मानन्द सरस्वती
आचार्य दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय
यमुनानगर (जगाधरी)